श्री महावीराय नमः
श्री कुशलरत्नगजेन्द्रगणिभ्यो नमः
नाणस्स सव्वस्स पगासणाए
(ज्ञान समस्त द्रव्यों का प्रकाशक है)

जय गुरु हीरा

जय गुरु मान

जैन सिद्धान्त शास्त्री

बारहवीं कक्षा

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड

प्रधान कार्यालय :
घोड़ों का चौक, जोधपुर -342 001 (राजस्थान)
फोन : 0291-2630490 फैक्स : 0291-2630490, 2636763

सूत्र विभाग–

आचारांग सूत्र-संक्षिप्त परिचय

आगम का महत्त्व

जैन आगम–साहित्य का प्राचीन भारतीय–साहित्य में अपना एक विशिष्ट और गौरवपूर्ण स्थान है। वह स्थूल अक्षर–देह से ही विशाल व व्यापक नहीं है, अपितु ज्ञान और विज्ञान का, न्याय और नीति का, आचार और विचार का, धर्म और दर्शन का, अध्यात्म और अनुभव का अनुपम एवं अक्षय कोष है। यदि हम भारतीय–चिन्तन में कुछ क्षणों के लिए जैन आगम–साहित्य को पृथक् करने की कल्पना करें तो भारतीय–साहित्य की जो आध्यात्मिक गरिमा तथा दिव्य और भव्य ज्ञान की चमक–दमक है, वह एक प्रकार से धुँधली प्रतीत होगी और ऐसा ज्ञात होगा कि हम बहुत बड़ी निधि से वंचित हो गए।

वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों का है, बौद्ध परम्परा में जो स्थान त्रिपिटक का है, पारसी धर्म में जो स्थान 'अवेस्ता' का है, ईसाई धर्म में जो स्थान बाइबिल का है, इस्लाम धर्म में जो स्थान कुरान का है, उससे भी बढ़कर स्थान जैन परम्परा में आगम–साहित्य का है।

जैन दृष्टि से जिन्होंने राग–द्वेष को जीत लिया है, वे जिन, तीर्थंकर और सर्वज्ञ हैं, उनका तत्त्व–प्ररूपण, उपदेश और उनकी विमल–वाणी आगम है उसमें वक्ता के साक्षात् दर्शन और वीतरागता के कारण दोष की किञ्चित्मात्र भी सम्भावना नहीं रहती और न पूर्वापर विरोध ही होता है।

तीर्थंकर भगवान केवल अर्थ रूप ही उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध अथवा ग्रन्थबद्ध करते हैं। अर्थात्मक ग्रन्थ के प्रणेता तीर्थंकर हैं। आचार्य देववाचकजी ने इसीलिये आगमों को तीर्थंकर–प्रणीत कहा है। यह स्मरण रखना होगा कि आगम साहित्य की जो प्रामाणिकता है, उसका मूल कारण गणधरकृत होने से नहीं, किन्तु उसके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वज्ञता के कारण है। गणधर केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं, किन्तु अंगबाह्य आगमों की रचना स्थविर करते हैं।

आचार्य मलयगिरि आदि का अभिमत है कि गणधर तीर्थंकर के सन्मुख यह जिज्ञासा व्यक्त करते हैं कि तत्त्व क्या है? उत्तर में तीर्थंकर **"उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा"** इस त्रिपदी का प्रवचन करते हैं। त्रिपदी को मूल आधार मानते हुए जिस आगम–साहित्य का निर्माण होता है, वह आगम–साहित्य अंगप्रविष्ट के रूप में माना जाता है और अवशेष जितनी भी रचनाएँ हैं, वे सभी अंगबाह्य हैं। 'द्वादशांगी' त्रिपदी का विस्तार है, इसीलिये वह गणधकृत भी है। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि गणधरकृत होने से सभी रचनाएँ अंग नहीं होती, त्रिपदी के अभाव में मुक्त व्याकरण से जो रचनाएँ की जाती हैं भले ही उन रचनाओं के निर्माता गणधर हों अथवा स्थविर हों, वे अंगबाह्य ही कहलायेंगी।

स्थविर के चतुर्दशपूर्वी और दशपूर्वी ये दो भेद किये गए हैं, वे सूत्र और अर्थ की दृष्टि से अंग–साहित्य के पूर्ण ज्ञाता होते हैं। वे जो कुछ भी रचना करते हैं, या कहते हैं, उसमें सामान्यतः विरोध नहीं होता।

केवली और श्रुतकेवली में ज्ञान की अपेक्षा मुख्य अन्तर यह है कि केवलज्ञानी सम्पूर्ण तत्त्व को प्रत्यक्षरूप से जानते हैं, जबकि श्रुतकेवली श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष रूप से जानते हैं।

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य पर चिन्तन करते हुए लिखा है कि अंगप्रविष्ट श्रुत वह है जो गणधरों के द्वारा सूत्र रूप में बनाया हुआ हो, गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकर के

द्वारा समाधार किया हुआ हो और अंगबाह्य–श्रुत वह है जो स्थविरकृत हो और गणधरों के जिज्ञासा प्रस्तुत किये बिना ही तीर्थंकर के द्वारा प्रतिपादित हो।

आचारांग की प्राथमिकता

अंग–साहित्य में आचारांग का सर्वप्रथम स्थान है। क्योंकि संघ–व्यवस्था में सर्वप्रथम आचार की व्यवस्था आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। श्रमण–जीवन की साधना का जो मार्मिक विवेचन आचारांग में उपलब्ध होता है, वैसा अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। आचारांग निर्युक्ति में आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट कहा है– मुक्ति का अव्याबाध सुख प्राप्त करने का मूल, आचार है। अंगों का सारतत्त्व सम्यग्दर्शन युक्त आचार में रहा हुआ है। मोक्ष का साक्षात् कारण होने से, आचार सम्पूर्ण प्रवचन की आधारशिला है।

एक जिज्ञासा प्रस्तुत की गई, अंग सूत्रों का सार आचार है तो आचार का सार क्या है? आचार्य ने समाधान की भाषा में कहा– आचार का सार अनुयोग है, अनुयोग का सार प्ररूपणा है। प्ररूपणा का सार सम्यक् चारित्र है। सम्यक् चारित्र का सार निर्वाण है और निर्वाण का सार अव्याबाध सुख है। इस प्रकार आचार मुक्तिमहल में प्रवेश करने का भव्य द्वार है। उससे आत्मा पर लगा हुआ अनन्त काल का कर्म–मल छूट जाता है।

प्राचीन प्रमाणों के आधार से यह स्पष्ट है कि द्वादशांगी में आचारांग प्रथम है। पर वह रचना की दृष्टि से प्रथम है या स्थापना की दृष्टि से? इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। नन्दी चूर्णी में आचार्य जिनदास गणी महत्तर ने सूचित किया है कि जब तीर्थंकर भगवान तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं, उस समय वे चौदह पूर्वों के अर्थ का सर्वप्रथम उपदेश करते हैं। एतदर्थ वे पूर्व कहलाते हैं। किन्तु जब गणधर सूत्रों की रचना करते है तो 'आचारांग, सूत्रकृतांग' आदि आगमों की रचना करते हैं। अतः अर्थ की दृष्टि से पूर्व सर्वप्रथम है। इसका समर्थन आचार्य हरिभद्र तथा आचार्य अभयदेव ने भी किया है।

जब तक आचार–संहिता की स्पष्ट रूपरेखा न हो, तब तक सम्यक् प्रकार से आचार का पालन नहीं किया जा सकता। अतः किसी का भी आचारांग की प्राथमिकता के सम्बन्ध में विरोध नहीं है। यहाँ तक कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं ने अंग–साहित्य में आचारांग को सर्वप्रथम स्थान दिया है। आचारांग में विचारों के ऐसे मोती पिरोये गये हैं जो प्रबुद्ध पाठकों के आत्म–भावों को झंकृत एवं परिष्कृत कर देते हैं। यही कारण है कि संक्षिप्त शैली में लिखित सूत्रों के अर्थ रूपी शरीर विराट् है। जब हम आचारांग के व्याख्या–साहित्य को पढ़ते हैं तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि सूत्रीय शब्द–बिन्दू में अर्थ–सिन्धु समाया हुआ है। एक–एक सूत्र पर और एक–एक शब्द पर विस्तार से ऊहापोह किया गया है। अनेक व्याख्या ग्रन्थ भी रचे गए हैं। इतना चिन्तन किया गया है कि ज्ञान की निर्मल गंगा बहती हुई प्रतीत होती है। श्रमणाचार का सूक्ष्म विवेचन और इतना स्पष्ट चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। कवि ने कहा है– "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्" आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध में जो यहाँ है वह अन्यत्र भी है और जो यहाँ नहीं है, वह अन्यत्र भी नहीं है। आचारांग में बाह्य और आभ्यन्तर इन दोनों प्रकार के आचार का गहराई से विश्लेषण किया गया है।

अंगों के क्रम की अपेक्षा से आचारांग का प्रथम स्थान है श्रुत–पुरुष का प्रमुख अंग आचार होने के कारण भी इसे प्रथम अंग कहा गया है।

आचार जीवन को समुन्नत बनाने का साधन, साधना का मूलाधार और मोक्ष का सोपान होने से आचारांग का जैन वाङ्मय में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। "ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः" इस सुविख्यात सूक्ति के अनुसार सर्वप्रथम सत् असत् का ज्ञान, तदनन्तर उस ज्ञान के माध्यम से विवेकपूर्वक असद् अर्थात् हेय का परित्याग एवं सद् अर्थात् उपादेय का विवेकपूर्वक आचरण करने पर ही साधक द्वारा मोक्ष की उपलब्धि की जा

सकती है। आचारांग में मोक्ष–प्राप्ति के बाधक असद् का एवं मोक्ष–प्राप्ति में परम सहायक सद् का ज्ञान कराते हुए समस्त हेय के परित्याग का और उपादेय के आचरण का उपदेश दिया गया है। इस दृष्टि से आचारांग के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण ही समवायांग और नन्दी सूत्र में द्वादशांगी का परिचय देते हुए इसे द्वादशांगी के क्रम में सर्वप्रथम स्थान पर रखा गया है।

निर्युक्तिकार, टीकाकार और चूर्णिकार ने भी आचारांग का द्वादशांगी के क्रम में सर्वप्रथम स्थान माना है। निर्युक्तिकार के उल्लेख के अनुसार तीर्थंकर भगवान सर्वप्रथम आचारांग का और तदनन्तर शेष अंगों का प्रवर्तन–प्रचलन करते हैं। गणधर भी उसी क्रम से अंगों की रचना करते हैं। आचारांग को अंगों के क्रम में प्रथम स्थान देने का कारण बताते हुए निर्युक्तिकार ने लिखा है कि आचारांग में मोक्ष के उपायों का प्रतिपादन किया गया है और यही प्रवचन का सार है, इसलिए इसको द्वादशांगी के क्रम में प्रथम स्थान दिया गया है।

आचारांग के चूर्णिकार और टीकाकार दोनों ने ही आगम और निर्युक्ति के उपर्युक्त उल्लेखों का समर्थन करते हुए निम्नलिखित रूप में आचारांग की सर्वाधिक महत्ता प्रकट की है–

"अनन्त अतीत में जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सबने सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश दिया है, वर्तमान काल के तीर्थंकर जो महाविदेह क्षेत्र में विराजमान हैं, वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देते हैं और अनागत अनन्त काल में जितने भी तीर्थंकर होने वाले हैं वे भी सर्वप्रथम आचारांग का ही उपदेश देंगे, तदनन्तर शेष 11 अंगों का। गणधर भी इसी परिपाटी का अनुसरण करते हुए इसी अनुक्रम से द्वादशांगी को ग्रथित करते हैं।"

आचारांग को द्वादशांगी में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है, वस्तुतः वह सब दृष्टियों से विचार करने पर पूर्णतः संगत प्रतीत होता है। आचारांग सूत्र के विशिष्ट ज्ञाता मुनि को ही उपाध्याय और आचार्य पद के योग्य माना जाय, इस प्रकार के अनेक उल्लेख आगम–साहित्य में उपलब्ध होते हैं। आचारांग का सर्वप्रथम अध्ययन करना साधु–साध्वियों के लिए अनिवार्य रखने के साथ–साथ इस प्रकार का भी विधान किया गया था कि यदि कोई साधु अथवा साध्वी, आचारांग का सम्यक्रूपेण अध्ययन करने से पूर्व ही अन्य आगमों का अध्ययन–अनुशीलन करता है तो वह लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का अधिकारी बन जाता है। इतना ही नहीं आचारांग का अध्ययन एवं ज्ञान प्राप्त नहीं करने वाले साधु को किसी भी प्रकार का पद नहीं दिया जाता था। वह पिण्डकल्पी (भिक्षा लाने योग्य) भी आचारांग का अध्ययन करने के पश्चात् माना जाता था। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्वादशांगी में आचारांग का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता रहा है।

वर्तमान में आगमों के अध्ययनक्रम में आचारांग के स्थान पर दशवैकालिक सूत्र का अध्ययन सर्वप्रथम प्रचलित होने के कारण आचारांग की सबसे पहले वाचना की अनिवार्यता नहीं रही है।

आचारांग के परिशीलन के पश्चात् बिना किसी प्रकार के पूर्वाग्रह से प्रभावित हुए निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर अन्तर्मन यही साक्षी देता है कि वस्तुतः आचारांग विश्वधर्म का प्रतीक है। विश्वबन्धुत्व की भावनाओं से ओतःप्रोत सच्चे और आदर्श मानवीय सिद्धान्तों का इसमें सजीव वर्णन होने के कारण आचारांग का केवल द्वादशांगी में ही नहीं अपितु संसार के समग्र धर्मशास्त्रों में बड़ा ऊँचा एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

आचारांग के नाम

आचारांग निर्युक्ति में आचारांग के दस पर्यायवाची नाम प्राप्त होते हैं–

1. **आयार—** यह आचारणीय का प्रतिपादन करने वाला है, एतदर्थ आचार है।
2. **आचाल—** यह निविड़ बंध को आचालित (चलित) करता है, अतः आचाल है।

3. **आगार—** चेतना को सम धरातल में अवस्थित करता है, अतः आगाल है।

4. **आगर—** यह आत्मिक–शुद्धि के रत्नों को पैदा करने वाला है, अतः आगर है।

5. **आसास—** यह संत्रस्त चेतना को आश्वासन प्रदान करने में सक्षम है, अतः आश्वास है।

6. **आयरिस—** इसमें कर्त्तव्य पालन का स्वरूप देख सकते हैं, अतः यह आदर्श है।

7. **अंग—** यह अन्तस्तल में अहिंसा आदि जो भाव रहे हुए हैं, उनको व्यक्त करता है, अतः अंग है।

8. **आइण्ण—** प्रस्तुत आगम में वीतरागता प्रधान आचीर्ण धर्म का निरूपण किया गया है, अतः आचीर्ण है।

9. **आजाइ—** इसमें ज्ञान आदि आचारों की उत्पत्ति होती है, अतः अजाति है।

10. **आमोक्ख—** बन्धन–मुक्ति का यह साधन है, अतः आमोक्ष है।

आचारांग की विषय-वस्तु

आचारांग में श्रमण निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर, विनय, कर्मक्षयादि विनय के फल, कायोत्सर्ग, उठना–बैठना, सोना, चलना, फिरना, भोजन–पान–उपकरण की मर्यादा एवं गवेषणा आदि, स्वाध्याय, प्रतिलेखन आदि, पाँच समिति, तीन गुप्ति का पालन, दोषों को टाल कर शय्या, वसति, पात्र, उपकरण, वस्त्र, अशन–पानादि का ग्रहण करना, महाव्रतों, विविध व्रतों, तपों, अभिग्रहों, अंगोपांगों के अध्ययनकाल में आयम्बिल आदि तप, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार–इन सब बातों का सम्यक्रूपेण विचार किया गया है।

आचारांग में दो श्रुतस्कन्ध, पच्चीस अध्ययन, 85 उद्देशनकाल एवं 85 समुद्देशनकाल कहे गये हैं। इस प्रथम अंग में 18000 पद, संख्यात अक्षर, अनन्त गम, अनन्त पर्याय और इसकी वर्ण परिधि में आने वाले असंख्यात त्रस एवं अनन्त स्थावर माने गये हैं।

पच्चीस अध्ययनात्मक आचारांग के जो 85 उद्देशन और 85 समुद्देशनकाल माने गये हैं उसका कारण यह है कि दोनों श्रुतस्कन्धों के कुल मिलाकर 85 उद्देशक होते हैं। उनमें से प्रत्येक उद्देशक का वाचनाकाल एक–एक मानकर उद्देशकों के अनुसार ही उद्देशनकाल कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं–

प्रथम अध्ययन के 7, दूसरे के 6, तीसरे और चौथे के चार–चार, पाँचवें के 6, छठे के 5, सातवें के 7, आठवें के 8, नौवें के 4, दशवें के 11, ग्यारहवें एवं बारहवें के तीन–तीन, तेरहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें और सोलहवें–इन चारों के क्रमशः दो–दो उद्देशक तथा शेष 9 अध्ययनों में से प्रत्येक के एक–एक उद्देशक। इस प्रकार कुल 85 उद्देशकों के अनुसार उद्देशनकाल और समुद्देशनकाल भी 85–85 हैं।

उपर्युक्त ये सभी जिनोक्त जीवादि पदार्थ जो द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शाश्वत एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से अशाश्वत हैं, उन सबका समस्त जीवों पर दया व उनके कल्याण की दृष्टि से आचारांग में समीचीन एवं समग्ररूपेण विवेचन किया गया है।

आचारांग में गद्य और पद्य इन दोनों ही शैलियों में प्रतिपाद्य विषय का प्रतिपादन होने के कारण यह गद्य–पद्यात्मक अंगशास्त्र है। वर्तमान में दोनों श्रुतस्कन्धरूप आचारांग का पद–परिमाण 2500 श्लोक प्रमाण है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध

आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का नाम नवब्रह्मचर्य है और इसमें निम्नलिखित 9 अध्ययन हैं:–

शस्त्रपरिज्ञा, लोकविजय, शीतोष्णीय, सम्यक्त्व, लोकसार (आवंति), धूत, महापरिज्ञा, विमोक्ष (विमोह) और उपधानश्रुत। आचारांग सूत्र में ये 9 अध्ययन इसी क्रम से दिये हुए हैं। आचारांग निर्युक्तिकार तथा वृत्तिकार शीलांक ने भी अध्ययनों का यही क्रम दिया है। स्थानांग और समवायांग में महापरिज्ञा अध्ययन को सातवें स्थान पर न रखकर नौवे स्थान पर रखा गया है। नंदीसूत्र की हारिभद्रीया तथा मलयवृत्ति में महापरिज्ञा अध्ययन को आठवें और उपधानश्रुत को नौवें स्थान पर रखा है। इस प्रकार इन अध्ययनों के क्रम में थोड़ा बहुत अन्तर उपलब्ध होता है पर संख्या में कहीं कोई अन्तर नहीं दिया गया है।

प्रथम अध्ययन

प्रथम श्रुतस्कन्त के शस्त्र–परिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में 7 उद्देशक हैं, जिनमें विश्वबन्धुत्व का सजीव चित्र खींचते हुए बताया गया है कि प्रत्येक जीव अपने ही समान चेतना वाला है और सबको अपना–अपना जीवन प्रिय है। अतः प्रत्येक प्राणी को आत्मवत् समझकर किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय में से किसी भी जीव की हिंसा करना दुर्गति और अनन्त भवभ्रमण का कारण है। वनस्पतिकाय की सजीवता बताने के लिये अध्ययन में मनुष्य–देह के साथ वनस्पति की तुलना की गई है।

प्रथम अध्ययन का नाम शस्त्र–परिज्ञा रखा गया है, इसका अर्थ है– द्रव्यशस्त्र– लाठी, तलवार, तोप आदि तथा भावशस्त्र– काम, क्रोध, मद, मोहादि की भयंकरता एवं उनके द्वारा निरन्तर वृद्धिंगत होने वाले अनन्त भवभ्रमण के भयावह स्वरूप को समझकर द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र दोनों प्रकार के शस्त्रों का परित्याग करना। द्रव्य और भावशस्त्रों को जानकर उनका परित्याग करना साधना का प्रथम चरण और मुक्ति का प्रथम सोपान है।

द्वितीय अध्ययन

दूसरे 'लोकविजय' नामक अध्ययन में 6 उद्देशक हैं। लोकविजय का अर्थ है लोक अर्थात् संसार पर विजय। लोक दो प्रकार है– पहला, चार गतियों की गतियों में भ्रमण रूप द्रव्यलोक और दूसरा राग–द्वेषादि भावलोक। राग–द्वेषादि भावलोक के कारण ही जीव चतुर्गतिरूप द्रव्यलोक में परिभ्रमण करता है। इस अध्ययन में राग–द्वेष– विषय–कषायादि पर विजय प्राप्त करके लोक अर्थात् भवभ्रमण पर विजय प्राप्त करने का उपदेश दिया गया है। इसमें संसार के बीजरूप मूल कारण क्रोध, मान, माया व लोभ का नाश कर वैराग्य एवं संयम में दृढ़चित्त होने तथा सब प्रकार के आरम्भ–समारम्भों में ममत्वत्याग का निर्देश है। इसके साथ ही साथ इसमें साधक को अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी परिस्थितियों में समभाव रखने और संयम–पालन के मार्ग में आने वाली बाधाओं पर विजय प्राप्त कर आत्मलक्षी बनने का उपदेश है।

तृतीय अध्ययन

तीसरे शीतोष्णीय नामक अध्ययन में 4 उद्देशक हैं। शीत का अर्थ है अनुकूल परीषह और उष्ण का अर्थ प्रतिकूल परीषह। इस अध्ययन में साधनापथ के पथिक–भिक्षु को उपदेश दिया गया है कि वह अनुकूल परीषहजन्य सुख की स्थिति में अथवा प्रतिकूल परीषहजन्य दुःख की स्थिति में समभाव रखते हुए साधनापथ पर निरन्तर गतिशील रहे। इसके प्रथम उद्देशक में असंयमी को सुप्त की संज्ञा देकर द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि सुप्त व्यक्ति निरन्तर घोर दुःख भोगते रहते हैं। इसके तृतीय उद्देशक में देह–दमन के साथ–साथ

श्रमण के लिये चित्तशुद्धि करना अनिवार्य बताया गया है। चौथे उद्देशक में कषाय तथा पापकर्म के त्याग एवं संयम के उत्तरोत्तर उत्कर्ष करते रहने का उपदेश है।

निर्युक्तिकार द्वारा भी तृतीय अध्ययन के इन चारों उद्देशकों का विषयक्रम पूर्व वर्णित रूप में ही बताया गया है और यही विषयक्रम वर्तमान में उपलब्ध होता है।

चतुर्थ अध्ययन

चौथे अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व का अर्थ है शाश्वत सत्य धर्म में विश्वास, आस्था–श्रद्धा–निष्ठा। इस चौथे सम्यक्त्व अध्ययन में 4 उद्देशक हैं। इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रथम सूत्र में शाश्वत सत्य धर्म के स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए कहा गया है– "अतीत, वर्तमान और आगामी काल के सभी अरिहन्तों–तीर्थंकरों का यही कथन है कि किसी भी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की न तो हिंसा करनी चाहिए, न करवानी ही चाहिए और न उसको किसी प्रकार की पीड़ा पहुँचानी चाहिए। हिंसादि करने वालों का अनुमोदन भी नहीं करना चाहिए। अहिंसा रूप यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है। सम्पूर्ण लोक के समस्त जीवों के दु:खों को जानने वाले महापुरुषों ने इस (धर्म) का वर्णन किया है। यह अहिंसा एवं वीतरागता मूलक धर्म उन सब लोगों को सुनाना चाहिए जो इसको सुनने के लिए उद्यत अथवा अनुद्यत, उपस्थित अथवा अनुपस्थित, मन, वचन एवं काय रूप दण्ड से उपरत अथवा अनुपरत, सोपधिक अथवा निरुपधिक, संयोगरत अथवा संयोग से उपरत हों, क्योंकि यही सच्चा धर्म है, यही मोक्षप्रदायी है।

अथाह सागर तुल्य जैन दर्शन को इस एक ही सूत्र रूप गागर में समाविष्ट कर दिया गया है। सच्ची मानवता का प्रतीक यह सूत्र जैन धर्म को विश्व धर्म के गरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठाापित करने के लिये पर्याप्त है।

द्वितीय उद्देशक में आस्रव एवं संवर द्वारों का विवेचन करते हुए बताया गया है कि आस्रव एवं संवर, एकान्तत: स्थान और क्रिया पर नहीं अपितु मूलत: साधक की क्रमश: शुभाशुभ भावना पर निर्भर करते हैं, अत: साधक को राग–द्वेष से रहित समत्वभाव रखने के लिये सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

तृतीय उद्देशक में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह भाव–विशुद्धि द्वारा नये कर्मों के आगमन को रोकने के साथ–साथ पूर्वसंचित कर्मों का नाश करने के लिये यथाशक्य तप–साधना में निरत रहे।

चौथे उद्देशक में साधनामार्ग को कठोर और वीरों का मार्ग बताते हुए साधक को उपदेश दिया गया है कि वह समस्त ऐहिक सुखों और अपने शरीर के प्रति भी ममत्व का त्याग कर सम्यक्त्व द्वारा अहिंसा, संवर और निर्जरा पर हुई अपनी श्रद्धा को सदा अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करता रहे। चारों उद्देशकों का यही विषयक्रम निर्युक्ति एवं वृत्ति में निर्दिष्ट है और यही क्रम आचारांग में आज भी विद्यमान है।

पंचम अध्ययन

पाँचवें अध्ययन का नाम लोकसार अध्ययन है। इसके आदि, मध्य और अन्त में 'आवंति' शब्द आया है, इस दृष्टि से इसका दूसरा नाम 'आवंति अध्ययन' भी रखा गया है। इसमें समग्र लोक के सारभूत धर्म का निरूपण करते हुए बताया गया है कि लोक में सारभूततत्त्व धर्म, धर्म का सार ज्ञान, ज्ञान का सार संयम और संयम का सार मोक्ष है। प्रस्तुत अध्ययन में 6 उद्देशक हैं।

प्रथम उद्देशक में प्राणी–हिंसा को कर्मबन्ध एवं भवभ्रमण का कारण बताते हुए कहा गया है कि जो कोई व्यक्ति किसी प्रयोजन अथवा बिना किसी प्रयोजन के प्राणियों की हिंसा करता है, वह निरन्तर उन्हीं जीव–योनियों में घूमता हुआ दुस्सह दु:खों का अनुभव करता है। हिंसा, संशय एवं भोगों का परित्याग किये बिना कोई प्राणी संसार–सागर से पार नहीं हो सकता।

द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि सभी प्राणी जीना और सुखी रहना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता, अतः सच्चा मुनि वही है जो किसी जीव की हिंसा नहीं करता और हिंसाजन्य पाप से सदा दूर रहता है।

तृतीय उद्देशक में साधक को उपदेश दिया गया है कि वह सर्वथा अपरिग्रही रहकर कामोन्मुख एवं भोगासक्त अपनी आत्मा के साथ युद्ध करते हुए अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त करे। बाह्य युद्धों को अनार्य–युद्ध की संज्ञा देते हुए आत्म–विजय हेतु किये जाने वाले युद्ध को ही आर्य–युद्ध एवं सच्चा युद्ध बताया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में उस मुनि के लिये एकाकी विचरण वर्जनीय बताया गया है जो कि वय एवं ज्ञान की दृष्टि से अपरिपक्व अथवा परीषहों को सहन करने में सक्षम न हो।

पंचम उद्देशक के प्रारम्भ में आचार्य की उस निर्मल जल से भरे उपशान्त जलाशय से तुलना की गई है जो अपने स्वच्छ जल से समस्त जलचर जन्तुओं की रक्षा करते हुए समभूमि में अवस्थित है। इसमें बताया गया है कि आचार्य भी उस स्वच्छ जलपूर्ण जलाशय के समान सद्गुणों से ओतःप्रोत, उपशान्त, मन एवं इन्द्रियों को वश में रखने वाले, प्रबुद्ध, तत्त्वज्ञ और श्रुत से अपना तथा पर का कल्याण करने वाले हैं। जो साधक संशय रहित हो जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित तत्त्वज्ञान को सत्य समझकर ऐसे महर्षियों की आज्ञानुसार संयम का पालन करता है, वह समाधि को प्राप्त करता है।

इस पाँचवें उद्देशक के पाँचवें सूत्र में हिंसा से उपरत रहने का जिन मार्मिक और अन्तस्तलस्पर्शी शब्दों में जो महत्त्वपूर्ण उपदेश दिया गया है वह उस रूप में सम्भवतः अन्यत्र विश्व के किसी दर्शन में उपलब्ध नहीं होता। इसमें बताया गया है– (ओ मानव!) जिसे तू मारने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू अपना आज्ञावर्ती बनाने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू परिताप पहुँचाने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू पकड़ने–बाँधने योग्य समझता है वह तू ही है, जिसे तू प्राणों से वियोजित कर देने योग्य समझता है वह भी तू ही तो है। इस प्रकार के वास्तविक तथ्य को पहचान कर प्रत्येक जीव को अपनी आत्मा के समान समझने वाला सरलवृत्ति युक्त साधु किसी भी जीव की न तो स्वयं हिंसा करे, न किसी दूसरे से हिंसा करवाये और न किसी प्राणी की हिंसा का अनुमोदन ही करे। दूसरे की हिंसा के फलस्वरूप होने वाला घोर दुःख मेरी आत्मा को ही भोगना पड़ेगा, इस प्रकार का विचार कर बुद्धिमान् अपने मन में किसी प्राणी की हिंसा का विचार तक न आने दे।

इस सूत्र में निहित उद्बोधन के माध्यम से स्पष्टरूपेण प्रत्येक प्राणी को सतर्क किया गया है कि किसी प्राणी के वध, बन्धन, उत्पीड़न आदि का विचार करना वस्तुतः स्वयं का वध, बन्धन, उत्पीड़न करना है। इस प्रकार के विचार करने वाला व्यक्ति सर्वप्रथम स्वयं ही अपने विचारों का निशाना बनता है। क्योंकि दूसरे प्राणी को पीड़ा पहुँचाने के संकल्पमात्र से, इस प्रकार का संकल्प करने वाले प्राणी के आत्म–गुणों का हनन हो जाता है, वह स्वयं अशान्त हो जाता है। अशान्त होना, तनावग्रस्त होना स्वयं की हिंसा करना है।

छट्ठे उद्देशक में बताया गया है कि जो साधक जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित संयमधर्म का अपने आचार्य की आज्ञानुसार अप्रमत्तरूप से निरन्तर पालन करता है और सब प्रकार के कर्मबन्धों के भाव–स्त्रोतों से पूरी तरह बचते हुए साधनारत रहता है वह क्रमशः चार घातिकर्मों का क्षय कर अन्त में जन्म–मरण के बन्धन से मुक्त हो निरञ्जन–निराकार, सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्धत्व को प्राप्त करता है। इसमें सिद्ध भगवान के स्वरूप का वर्णन करते हुए बताया गया है– "वह सिद्धात्मा जन्म–मरण के दुःखों से परे, मुक्तावस्था में रत, शब्दों द्वारा अनिर्वचनीय, तर्क द्वारा अगम्य, मति द्वारा अग्राह्य, केवल विशुद्ध चैतन्य, अनन्त ज्ञान–दर्शनयुक्त, अनन्त अक्षय सुख एवं अनन्त शक्ति सम्पन्न, मोक्ष का क्षेत्रज्ञ, परमपद का धारक है। न वह दीर्घ है न ह्रस्व, न वर्तुलाकार, न त्रिकोण, न चतुष्कोण, न परिमंडलाकार, न कृष्ण, न नील, न रक्तवर्ण, न पीत, न श्वेत, न सुगन्ध युक्त, न दुर्गन्ध युक्त, न तिक्त, न कटु, न कषायरस वाला, न खट्टा, न मधुर, न कर्कश, न कोमल, न

भारी, न हल्का, न उष्ण न शीत, न स्निग्ध, न रूक्ष, काया–लेश्या तथा कर्मबीज से रहित, नितान्त निस्संग, न स्त्री, न पुरुष और न नपुंसक, सर्वज्ञ–सर्वदर्शी, निरुपम, अरूपी सत्ता वाला और अपद होने के कारण उस सिद्धात्मा का स्वरूप एवं सुख किसी भी शब्द के द्वारा अनिर्वचनीय– अनिरूपणीय है।

छट्ठा अध्ययन

छट्ठे अध्ययन का नाम धूत अध्ययन है। धूत का अर्थ है किसी वस्तु पर लगे मैल को दूर करके उसे स्वच्छ बना देना। इस अध्ययन में आत्मा पर लगे कर्म–मैल को तप–संयम द्वारा दूर कर आत्मा को समुज्ज्वल बनाने का उपदेश दिया गया है। इस अध्ययन के 5 उद्देशक हैं।

इसके प्रथम उद्देशक में बताया गया है कि जिस प्रकार शैवाल से आच्छादित जलाशय का कछुआ बाहर की वस्तुओं एवं बाहर जाने के मार्ग को नहीं जान सकता, जिस प्रकार एक वृक्ष अपना अधोभाग पृथ्वी में गड़ा हुआ होने के कारण शीतोष्णादि संकटों से अपना बचाव करने हेतु अन्यत्र नहीं जा सकता, उसी प्रकार मोह में आसक्त व्यक्ति न तो सत्य–मार्ग को देख सकता है और न प्रशस्त पथ पर चलकर शान्ति के स्थल पर ही पहुँच सकता है। इसके परिणामस्वरूप वह जन्म–मरण और संसार के दुःखों की चक्की में निरन्तर पिसता रहता है। अतः साधक को चाहिए कि वह सांसारिक मोह एवं आसक्ति से सर्वथा बचा रहकर साधनारत रहे।

द्वितीय उद्देशक में बताया गया है कि जो साधक परीषहों से डरकर साधुत्व एवं वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछनक, रजोहरणादि संयम–साधना के उपकरणों का परित्याग कर देते हैं, वे दीर्घकाल तक भवभ्रमण करते रहते हैं और जो साधक परीषहों को समभाव से सहन करते हुए संयमपूर्वक साधना में निरत रहते हैं, वे अन्ततोगत्वा संसार–सागर को पार कर निर्वाण प्राप्त कर लेते हैं।

तृतीय उद्देशक में साधु को उपदेश दिया गया है कि वह धर्मोपकरणों के अतिरिक्त अन्य उपकरणों को कर्मबन्ध का कारण समझे। वह कभी मन में इस प्रकार का विचार न करे कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, अतः नये वस्त्र की याचना करूँगा, अथवा सूई–धागे की याचना कर फटे हुए वस्त्र को सिलूँगा, अपितु वह उन धीर–वीर महापुरुषों के चरित्र का चिन्तन करे, जिन्होंने निर्वस्त्र रहकर अनेक पूर्वों अथवा वर्षों तक संयम–मार्ग में स्थिर रह परीषहों को सहन कर परमपद प्राप्त किया। साधक उन महापुरुषों की तरह परीषहों को सहन करने की शक्ति अपने अन्तर में उत्पन्न करने की कामना करे। परीषहों को सहन करते–करते जिस साधक की भुजाएँ कृश हो जाती हैं, माँस तथा रुधिर स्वल्प मात्रा में अवशिष्ट रह जाता है और जिसने राग–द्वेष पर विजय प्राप्त कर समत्वभाव प्राप्त कर लिया है, वह साधक संसार–सागर को पार कर लेता है। इसके पश्चात् संयमनिष्ठ साधु को असन्दीन (जल से कभी न भरने वाला) द्वीप की उपमा देते हुए सब जीवों की रक्षा करने वाला तीर्थंकरप्रणीत धर्मतीर्थस्वरूप बताया गया है।

चतुर्थ उद्देशक में बताया गया है कि जो साधु ज्ञान और आचार दोनों से ही भ्रष्ट हो जाते हैं, वे अनन्त काल तक भवभ्रमण करते हुए संसार में भटकते रहते हैं। अतः साधक को चाहिये कि वह अहर्निश ज्ञान और क्रिया की साधना में निरत रहकर वीतरागता एवं मुक्तिपथ की ओर अग्रसर होता रहे।

पंचम उद्देशक में उपदेष्टा के लक्षणों का निरूपण करते हुए बताया गया है कि उपदेष्टा वस्तुतः कष्टसहिष्णु, वेदवित् अर्थात् आगमज्ञान में निष्णात, सर्वभूतानुकम्पी, सकल चराचर जीवनिकाय का शरण्यभूत हो। उसका उपदेश समष्टि के लिये और समष्टि का हितसाधक तथा शान्ति, क्षमा, अहिंसा, विरति, कषायों के उपशमन, निर्वाण, निर्दोष व्रताचरण, सरलता, मृदुता एवं लाघव आदि विषयों पर आगमानुसार होना चाहिए। उपदेश देते समय मुनि स्वयं की तथा अन्य की आशातना–अवहेलना न करे। जिस प्रकार धीर, वीर योद्धा संग्राम में सबसे आगे रहकर शत्रुओं के साथ घोर युद्ध करता हुआ विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार साधक घोरातिघोर परीषहों को निर्भय और स्थिरभाव से सहन करते हुए मृत्युकाल उपस्थित होने पर पादपोपगमन

आदि अनशन कर जब तब आत्मा शरीर से पृथक् न हो जाय तब तक आध्यात्मिक चिन्तन में स्थिरभाव से दत्तचित्त रहे।

सातवाँ अध्ययन

सात उद्देशकों वाला 'महापरिज्ञा' नामक सातवाँ अध्ययन वर्तमाल काल में उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके अन्तर्गत किन–किन विषयों पर विवेचन किया गया था, इस पर आधिकारिक रूपेण कोई प्रकाश नहीं डाला जा सकता। यह 'महापरिज्ञा' अध्ययन किस समय विलुप्त हुआ, इसके सम्बन्ध में निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु कुछ तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि विक्रम संवत् 562 के पश्चात् विक्रम संवत् 933 से पहले किसी समय में महापरिज्ञा अध्ययन विलुप्त हुआ होगा।

आचारांग निर्युक्ति में सातवें महापरिज्ञा अध्ययन का विषय बताया गया है– "मोहजन्य परीषह उपसर्ग।" इस गाथा–पद की व्याख्या करते हुए टीकाकार आचार्य शीलांक ने लिखा है– "संयमादि गुण युक्त साधु के समक्ष यदि कभी मोहजन्य परीषह अथवा उपसर्ग उत्पन्न हो जाय तो उसे चाहिये कि वह उन्हें दृढ़ता के साथ समीचीन रूपेण सहन करे।

आचारांग निर्युक्ति में महापरिज्ञा अध्ययन पर जो 9 गाथाएँ दी हुई हैं उनमें से पहली दो गाथाओं में यह बताया गया है कि साधक अपनी दैनन्दिनी क्रिया को लेकर अन्तक्रिया संलेखना तक में अपने सम्मुख उपस्थित होने वाले अनुकूल परीषहों तथा साध्वाचार के समस्त अतिचारों को विशिष्ट ज्ञान से समझकर उनमें किंचित्मात्र भी विचलित न होते हुए संयममार्ग में स्थिर रहे।

इनमें आगे की तीन गाथाओं में बताया गया है कि महा शब्द का प्राधान्य अर्थ में और परिमाण अर्थ में प्रयोग होता है। इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से जो प्राधान्य में महान् हों वहाँ महा शब्द प्राधान्य का द्योतक और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से जहाँ आकार, प्रकार, परिमाण, भार आदि का बोध कराने के लिये महा शब्द का प्रयोग किया जायेगा वहाँ वह परिमाण का बोधक होगा।

इससे आगे की तीन गाथाओं में परिज्ञा के द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की दृष्टि से उपभेद बताने के पश्चात् भावपरिज्ञा को मूलगुण एवं उत्तरगुण के भेद से दो प्रकार का, मूल गुण भावपरिज्ञा को पाँच प्रकार का और उत्तर गुण भावपरिज्ञा को दो प्रकार से बताया गया है और यह कहा गया है कि प्राधान्य की दृष्टि से दोनों प्रकार की परिज्ञाओं में जो सर्वोत्तम परिज्ञान होता है, उसे महापरिज्ञा कहते हैं।

इस अध्ययन की निर्युक्ति की अन्तिम गाथा में साधक को यह निर्देश दिया गया है कि वह मन, वचन और काय से पूर्णतया देवांगना, मानवांगना एवं तिर्यञ्चांगना का परित्याग करे।

महापरिज्ञा अध्ययन पर दी हुई उक्त 9 निर्युक्ति–गाथाओं से इस अध्ययन के विषय पर स्पष्ट रूप से पूर्ण प्रकाश तो नहीं पड़ता पर इतना संकेत अवश्य मिलता है कि इस अध्ययन में साधक को अपने सम्पूर्ण साधक जीवन में प्रतिपल प्रतिपद सजग रहने, साध्वाचार तथा साध्वाचार के अतिचारों को विशिष्ट प्रज्ञा द्वारा भलीभांति समझकर तीव्र मोह के उदय से उत्पन्न सभी प्रकार के यौन अथवा अन्य परीषहों एवं उपसर्गों से किञ्चित्मात्र भी चलित न होकर ब्रह्मनिष्ठ, आत्मनिष्ठ और संयमनिष्ठ रहने का उपायों सहित उपदेश दिया गया था।

आठवाँ अध्ययन

आठवें अध्ययन के दो नाम हैं– विमोक्ष और विमोह। इसके मध्य में "इच्चेयं विमोहाययणं" तथा "अणुपुव्वेण विमोहाइं" और अन्त में– "विमोहन्नयरं हियं" इन पदों में 'विमोह' शब्द का प्रयोग होने के कारण सम्भवतः इस अध्ययन का नाम विमोह अध्ययन रखा गया हो। अर्थतः इन दोनों शब्दों में कोई विशेष अन्तर

प्रतीत नहीं होता, क्योंकि विमोक्ष का अर्थ है सब प्रकार के संग से पृथक् हो जाना और विमोह का अर्थ है मोह रहित होना। इस अध्ययन में ये दोनों शब्द समस्त ऐहिक संसर्गों के परित्याग के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

इस अध्ययन के प्रथम उद्देशक में श्रमणों के लिये निर्देश है कि वे अपने से भिन्न आचार, भिन्न धर्मवाले साधुओं के साथ न अशन–पान करें और न वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपुंछनक, निमन्त्रण, आदर–समादर, सेवा–शुश्रूषा आदि का आदान–प्रदान ही करें। इसमें सदा सब प्रकार के पापों से बचते रहने के उपदेश के साथ कहा गया है कि विवेकपूर्वक सब पाप–कर्मों को सम्यक्रूपेण समझते हुए किसी भी दशा में पाप न करना ही वास्तविक धर्म है।

द्वितीय उद्देशक में साधु को यह उपदेश दिया गया है कि वह अकल्पनीय वस्तु को किसी भी दशा में ग्रहण न करे और उस प्रकार की स्थिति में यदि कोई गृहस्थ अप्रसन्न होकर ताड़न–तर्जन आदि भयंकर कष्ट भी दे तो साधु शान्तचित्त और समभाव से उन परीषहों को सहन करे।

तीसरे उद्देशक में एकचर्या, भिक्षुलक्षण आदि का उल्लेख करने के पश्चात् कहा गया है कि यदि किसी साधु के शरीर–कम्पन को देखकर किसी गृहस्थ के मन में इस प्रकार की शंका उत्पन्न हो जाय कि कामोत्तेजना के कारण उसका शरीर काँप रहा है तो उस साधु को चाहिए कि उस गृहस्थ की उस शंका का समीचीन रूपेण समाधान करे।

चौथे उद्देशक में एक अभिग्रहधारी मुनि के वस्त्र, पात्र आदि की मर्यादा के उल्लेख के साथ साधु को निर्देश दिया गया है कि वह जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित मुनि की सचेलक तथा अचेलक अवस्थाओं को समभावपूर्वक अच्छी तरह से जाने और समझे। इसमें साधक को निर्देश दिया गया है कि उन विषम परिस्थितियों में जबकि संयम की रक्षा सभी तरह से असम्भव प्रतीत होने लगे अथवा स्त्री आदि का अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होने पर उसे अपने संयम के भंग होने की पूरी सम्भावना हो तो उस प्रकार की विषम परिस्थितियों में वह विवेक एवं समभावपूर्वक प्राणों के मोह का परित्याग कर सहर्ष मृत्यु का वरण करे।

पाँचवें उद्देशक में बताया गया है कि दो वस्त्र एवं एक पात्रधारी, एक वस्त्रधारी अथवा अचेल साधक समभाव से परीषहों को सहन करे। विभिन्न अभिग्रहधारी साधु जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म को अच्छी तरह जानता हुआ अपने अभिग्रह का यथार्थरूप से पालन करे और भक्तपरिज्ञा द्वारा अन्त में समाधिपूर्वक प्राणत्याग करे।

छठे उद्देशक में साधु को उपदेश दिया गया है कि यदि उसने एक वस्त्र और एक पात्र रखने का अभिग्रह किया है तो शीतादि परीषहों के समुपस्थित होने पर दूसरे वस्त्र अथवा पात्र की कांक्षा न करे। इस उद्देशक में वस्त्र, पात्र आदि की लघुता एवं आत्मलाघव अर्थात् मैं एकाकी हूँ, न तो मेरा कोई और न मैं किसी का हूँ। इस प्रकार की भावना को तप और आत्म–विकास का साधन बताया गया है। इसमें साधु को यह भी उपदेश दिया गया है कि वह रस का आस्वादन नहीं करते हुए आहार करे और जब उसे विश्वास हो जाय कि संयम–साधना के कठोर क्रियानुष्ठानों का पालन करते हुए अथवा रोगादि के कारण उसका शरीर अत्यन्त क्षीण एवं अशक्त हो गया है तो वह किसी गृहस्थ से निर्दोष घास की याचना कर जीवजन्तु रहित एकान्त स्थान में भूमि को परिमार्जित कर तृणशय्या बिछाये और उस पर शान्ति एवं समतापूर्वक इंगितमरण स्वीकार करे।

सातवें उद्देशक में बताया गया है कि जो प्रतिमासम्पन्न अचेलक साधु संयम में अवस्थित है, उसके मन में यदि इस प्रकार के विचार उत्पन्न हों कि वह तृणस्पर्श, शीत, उष्ण, डांस, मच्छर आदि के परीषहों को सहन करने में तो समर्थ है पर लज्जा को जीतने में असमर्थ है तो उस स्थिति में उसे कटिबन्ध धारण करना कल्पता है। संयम–साधना अथवा रोगादि के कारण बल तथा शरीर के अत्यधिक क्षीण हो जाने की दशा में साधु के लिये इस उद्देशक में विधान किया गया है कि वह गुफा आदि प्रासुक स्थान में गृहस्थ से याचना कर लाये हुए तृणों की शय्या बिछा उस पर कटी हुई लकड़ी की तरह निश्चल हो पादपोपगमन अनशन करे।

आठवें उद्देशक में पण्डितमरण का बड़ा ही हृदयस्पर्शी वर्णन करते हुए बताया गया है कि निरन्तर संयम की कठोर साधना करते हुए अथवा असाध्य रोग से शरीर इतना निर्बल हो जाय कि स्वाध्यायादि संयम–साधना का भी सामर्थ्य न रहे तो मुनि पूर्ववर्णित विधि से जीवजन्तुरहित एकान्त स्थान में तृणासन बिछाकर बाह्याभ्यन्तर ग्रन्थियों के परित्याग के साथ शान्त चित्त से अनशन स्वीकार करे। भक्त प्रत्याख्यान, इंगित मरण और पादपोपगमन इन तीन प्रकार के संथारों में पहले से दूसरे और दूसरे से तीसरे को श्रेष्ठ बताते हुए साधक को निर्देश दिया गया है कि वह जीवन और मरण दोनों में समान रूप से अनासक्त रहते हुए न जीने की अभिलाषा करे और न मरने की प्रार्थना ही। वह आत्म–चिन्तन के अतिरिक्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक सभी प्रकार के व्यापार को बन्द कर केवल आत्ममरण करता हुआ घोर से घोर उपसर्ग उपस्थित होने पर भी शान्त, दान्त एवं स्थिर रहे। अनशनावस्था में उसके शरीर के माँस का यदि हिंसक पशु भक्षण करें या उसके रक्त का पान करें तो उस हिंसा–जन्य वेदना को अपनी आत्मा के लिये अमृतसिंचन तुल्य समझकर समभाव से अन्तिम सांस तक अपने कर्मों की निर्जरा करता रहे। यदि उस अवस्था में मानवोपभोग्य अथवा देवोपभोग्य कमनीय से कमनीय भोगों का भी प्रलोभन दिया जाय तो वह उनको ग्रहण करने की इच्छा तक न करे और मोहरहित होकर उपर्युक्त तीन प्रकार के अनशनों में से यथाशक्ति किसी एक अनशन को हितकारी समझकर स्वीकार करे।

नौवाँ अध्ययन

नौवें उपधानश्रुत नामक अध्ययन में मुख्य रूप से भगवान महावीर की साधना का वर्णन है। यह पूरा अध्ययन गाथात्मक है। इसमें एक भी सूत्र नहीं है। इसमें 4 उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में भगवान महावीर द्वारा दीक्षा से दो वर्ष पूर्व सचित्त का त्याग, दीक्षानन्तर विहार, परपात्र एवं परवस्त्र का त्याग और 13 मास पश्चात् देवदूष्य वस्त्र का परित्याग बताया गया है। इसमें यह बताया गया है कि भगवान महावीर ने केवल पूर्व तीर्थंकरों की परम्परा का निर्वहन करने के लिये ही देवदूष्य वस्त्र स्वीकार किया पर शीत एवं दंश–मशकजन्य परीषहों से बचने के लिये उन्होंने उसका कभी उपयोग नहीं किया।

दूसरे और तीसरे उद्देशक में यह बताया गया है कि भगवान महावीर को किन–किन विकट क्षेत्रों में विहार कर कैसे–कैसे स्थानों में रहना पड़ा और उन्हें वहाँ कितने असह्य एवं घोर परीषह सहन करने पड़े।

चौथे उद्देशक में भगवान महावीर की घोर तपश्चर्याओं के वर्णन के साथ–साथ यह भी बताया गया है कि उन्हें भिक्षा में किस–किस प्रकार का रुक्ष एवं नीरस भोजन मिला, कितना समय उन्होंने निराहार रहकर तथा कितना समय बिना पानी के बिताया। अनार्य देश में विहार के समय वहाँ के निवासियों द्वारा प्रभु को दिये गये भीषण कष्टों के वर्णन के साथ इसमें बताया गया है कि भगवान महावीर उन असह्य परीषहों से किञ्चित्मात्र भी विचलित नहीं हुए।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध में 9 अध्ययन और नौ अध्ययनों के कुल 51 उद्देशक हैं। महापरिज्ञा अध्ययन और उसके सातों उद्देशकों के विलुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में प्रथम श्रुतस्कन्ध के 8 अध्ययन और 44 उद्देशक ही उपलब्ध हैं।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

निर्युक्तिकार के मतानुसार आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की 5 चूलिकाएँ मानी गई हैं। उनमें से प्रथम चार चूलिकाएँ ही विद्यमान हैं तथा निशीथ नाम की पाँचवीं चूलिका विस्तृत होने के कारण सम्भवतः निर्युक्तियों के रचनाकाल से पहले ही आचारांग से अलग की जाकर निशीथ नामक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठापित कर दी गई थी। क्योंकि नन्दिसूत्र में इसका निशीथ के नाम से तथा स्थानांग, समवायांग एवं निर्युक्ति में इसका आचारकल्प अथवा आचारप्रकल्प के नाम से उल्लेख उपलब्ध होता है।

प्रथम चूलिका में पिण्डैषणा आदि सात अध्ययन और उनके कुल मिलाकर 25 उद्देशक हैं। पिण्डैषणा नामक इसके प्रथम अध्ययन में निर्दोष आहार–पानी किस प्रकार प्राप्त करना, भिक्षा के समय किस प्रकार चलना, किस प्रकार की भाषा बोलना, किस प्रकार आहार प्राप्त करना आदि का वर्णन है। शय्यैषणा नामक द्वितीय अध्ययन में सदोष–निर्दोष उपाश्रय का विचार किया गया है। तीसरे ईर्यैषणा अध्ययन में चलने की विधि और अपवाद काल में नाव में बैठने की विधि बताई गई है। चौथे भाषैषणा अध्ययन में वक्ता के लिये 16 वचनों की जानकारी आवश्यक बताते हुए क्रोधोत्पत्ति के कारणों का निषेध किया गया है। पाँचवें वस्त्रैषणा अध्ययन में यह बताया गया है कि साधु को किस प्रकार वस्त्र ग्रहण करने चाहिए। छट्ठे पात्रैषणा नामक अध्ययन में पात्र–ग्रहण की विधि का निरूपण किया गया है। सातवें अवग्रहैषणा नामक अध्ययन में यह बताया गया है कि श्रमण को अपने सावधि निवासार्थ किस तरह का मर्यादित स्थान किस प्रकार प्राप्त करना और उसमें किस प्रकार रहना आदि। यह पूरी चूलिका गद्यात्मक है।

द्वितीय चूलिका में भी स्थान, निषीधिका आदि 7 अध्ययन हैं जो सभी उद्देशकरहित हैं। पहले अध्ययन में कायोत्सर्ग (ध्यान) आदि की दृष्टि से उपर्युक्त स्थान तथा दूसरे अध्ययन में निषीधिका की प्राप्ति के सम्बन्ध में निर्देश दिया गया है। तीसरे अध्ययन में दीर्घशंका तथा लघुशंका के स्थान के बारे में निरूपण है। चौथे तथा पाँचवें अध्ययन में क्रमश शब्द और रूप के प्रति राग–द्वेष रहित रहने का श्रमण के लिये विधान है। द्वितीय चूलिका भी पूरी गद्यमय है।

तीसरी "भावना" नामक चूलिका में भगवान महावीर के गर्भावतरण, गर्भ–साहरण, जन्म, जन्मोत्सव, नामकरण, तीन नाम, माता–पिता–पितृव्य के नाम, बहिन, भाई, भार्या, पुत्री एवं दोहित्री के नाम, माता–पिता का स्वर्गवास, वर्षीदान और साधना का वर्णन किया गया है। इस चूलिका में चौबीस गाथाएँ और शेष सब गद्य–पाठ हैं।

चौथी "विमुक्ति" नामक चूलिका में वीतराग स्वरूप का उपमाओं के साथ वर्णन किया गया है। इस चूलिका में केवल 11 गाथाएँ हैं।

इस प्रकार आचारांग सूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के कुल मिलाकर 25 अध्ययन और 85 उद्देशक होते हैं पर प्रथम श्रुतस्कन्ध में महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के लुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में सम्पूर्ण आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध, 24 अध्ययन और 78 उद्देशक ही उपलब्ध हैं।

आचारांग की जीवन में महत्ता

(निम्नांकित विवरण डॉ. कमलचन्दजी सोगाणी–जयपुर द्वारा कृत आचारांग चयनिका की प्रस्तावना से लिया गया है। इसमें बीच–बीच में कोष्ठकों में जो संख्या दी हैं, वे आचारांग चयनिका के सूत्रों की क्रम संख्या हैं।)

आचारांग में मुख्य रूप से मूल्यात्मक चेतना की सबल अभिव्यक्ति हुई है। इसका प्रमुख उद्देश्य अहिंसात्मक समाज का निर्माण करने के लिए व्यक्ति को प्रेरित करना है, जिससे समाज में समता के आधार पर सुख, शान्ति और समृद्धि के बीज अंकुरित हो सकें। अज्ञान के कारण मनुष्य हिंसात्मक प्रवृत्तियों के द्वारा श्रेष्ठ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। वह हिंसा के दूरगामी कुप्रभावों को, जो उसके और समाज के जीवन को विकृत करते हैं, नहीं देख पाता है। किसी भी कारण से की गई हिंसा आचारांग को मान्य नहीं है। हिंसा के साथ तालमेल आचारांग की दृष्टि में हेय है। वह व्यावहारिक जीवन की विवशता हो सकती है, पर वह उपादेय नहीं हो सकती। हिंसा का अर्थ केवल किसी को प्राण–विहीन करना ही नहीं है, किन्तु किसी भी प्राणी की स्वतन्त्रता का किसी भी रूप में हनन हिंसा के अर्थ में ही सिमट जाता है। इसीलिए आचारांग में कहा है कि किसी भी प्राणी को मत मारो, उस पर शासन मत करो, उसको गुलाम मत बनाओ, उसको मत सताओ और उसे अशान्त मत करो। धर्म तो प्राणियों के प्रति समता–भाव में ही होता है। मेरा विश्वास है कि हिंसा का इतना सूक्ष्म विवेचन विश्व–साहित्य में कठिनाई से ही मिलेगा। समता की भूमिका पर हिंसा–अहिंसा के इतने विश्लेषण एवं विवेचन के कारण ही आचारांग को विश्व–साहित्य में सर्वोपरि स्थान दिया जा सकता है। आचारांग की घोषणा है कि प्राणियों के विकास में अन्तर होने के कारण किसी भी प्रकार के प्राणी के अस्तित्व को नकारना अपने ही अस्तित्व को नकारना है। प्राणी विविध प्रकार के होते हैं; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इन सभी प्राणियों को जीवन प्रिय होता है, इन सभी के लिए दुःख अप्रिय होता है। आचारांग ने हिंसा–अहिंसा का विवेचन प्राणियों के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर प्रस्तुत किया है, जो मेरी दृष्टि में एक विलक्षण प्रतिपादन है। ऐसा लगता है कि आचारांग मनुष्यों की संवेदनशीलता को गहरी करना चाहता है, जिससे मनुष्य एक ऐसे समाज का निर्माण कर सके जिसमें शोषण, अराजकता, नियमहीनता, अशान्ति और आपसी सम्बन्धों में तनाव विद्यमान न रहे। मनुष्य अपने दुःखों को तो अनुभव कर ही लेता है, पर दूसरों के दुःखों के प्रति वह संवेदनशील प्रायः नहीं हो पाता है। यही हिंसा का मूल है। जब दूसरों के दुःख हमें अपने जैसे लगने लगें, जब दूसरों की चीख हमें अपनी चीख के समान मालूम हो, तो ही अहिंसा का प्रारम्भ हो सकता है। मनुष्य को अपने सार्वकालिक सूक्ष्म अस्तित्व में सन्देह न रहे, इस बात को समझाने के लिए पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से ही ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है। अपने सूक्ष्म अस्तित्व में सन्देह नैतिक–आध्यात्मिक मूल्यों को ही सन्देहात्मक बना देगा, जिससे व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन की आधारशिला ही गड़बड़ा जाएगी। इसीलिए आचारांग ने सर्वप्रथम स्व–अस्तित्व एवं प्राणियों के अस्तित्व के साथ क्रियाओं एवं उनसे उत्पन्न प्रभावों में विश्वास उत्पन्न किया है। ये सभी व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन को वास्तविकता प्रदान करते हैं और इनके आधार पर ही मूल्यों की चर्चा सम्भव बन पाती है।

आचारांग में 323 सूत्र हैं, जो नौ* अध्ययनों में विभक्त हैं। इन विभिन्न अध्ययनों में जीवन–विकास के सूत्र बिखरे पड़े हैं। यहाँ मानववाद पूर्णरूप से प्रतिष्ठित है। आध्यात्मिक जीवन के लिए प्रेरणाएँ यहाँ उपलब्ध हैं। मूर्च्छा, प्रमाद और ममत्व जीवन को दुःखी करने वाले कहे गए हैं। वस्तु–त्याग के स्थान पर ममत्व–त्याग को आचारांग में महत्त्व दिया गया है। वस्तु–त्याग, ममत्व–त्याग से प्रतिफलित होना चाहिए।

---

* वर्तमान में 8 अध्ययन ही प्राप्त हैं, 7वाँ अध्ययन अनुपलब्ध हैं।

आध्यात्मिक–जागृति मूल्यवान् कही गई है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य मान–अपमान, लाभ–हानि आदि द्वन्द्वों की निरर्थकता को समझ सकता है। अहिंसा, सत्य और समता के ग्रहण को प्रमुख स्थान दिया गया है। बुद्धि और तर्क जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी होते हुए भी, आध्यात्मिक अनुभव इनकी पकड़ से बाहर प्रतिपादित हैं। साधनामय मरण की प्रेरणा सूत्रों में व्याप्त है। आचारांग में भगवान महावीर की साधना का ओजस्वी वर्णन किसी भी साधक के लिए मार्ग–दर्शक हो सकता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि आचारांग की रचना–शैली और विषय की गम्भीरता को देखते हुए यह कहा गया है कि आचारांग उपलब्ध आगमों में सबसे प्राचीन है। "आचारांग आगम–साहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। उसमें वर्णित आचार मूलभूत है और वह महावीर युग के अधिक सन्निकट है।"

आचारांग के इन 323 सूत्रों में से ही हमने 129 सूत्रों का चयन 'आचारांग चयनिका' शीर्षक के अन्तर्गत किया है। इस चयन का उद्देश्य पाठकों के समक्ष आचारांग के उन कुछ सूत्रों को प्रस्तुत करना है, जो मनुष्यों में अहिंसा, सत्य, समता और जागृति (अनासक्ति) की मूल्यात्मक भावना को दृढ़ कर सकें, जिससे उनमें नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की चेतना सघन बन सके।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म

मनुष्य समय–समय पर मनुष्यों को मरते हुए देखता है। कभी न कभी उसके मन में स्व–अस्तित्व की निरन्तरता का प्रश्न उपस्थित हो ही जाता है। जीवन के गम्भीर क्षणों में यह प्रश्न उसके मानस–पटल पर गहराई से अंकित होता है। अतः स्व–अस्तित्व का प्रश्न मनुष्य का मूलभूत प्रश्न है। आचारांग ने सर्वप्रथम इसी प्रश्न से चिन्तन प्रारम्भ किया है। आचारांग का यह विश्वास प्रतीत होता है कि इस प्रश्न के समाधान के पश्चात् ही मनुष्य स्थिर मन से अपने विकास की बातों की ओर ध्यान दे सकता है। यदि स्व–अस्तित्व ही त्रैकालिक नहीं है तो मूल्यात्मक विकास का क्या प्रयोजन? स्व–अस्तित्व में आस्था उत्पन्न करने के लिए आचारांग पूर्वजन्म–पुनर्जन्म की चर्चा से शुरू होता है। आचारांग का कहना है कि यहाँ कुछ मनुष्यों में यह होश नहीं होता है कि वे अमुक दिशा से इस लोक में आएँ हैं। (1) वे यह भी नहीं जानते हैं कि वे आगामी जन्म में किस अवस्था को प्राप्त करेंगे? यहाँ प्रश्न यह है कि क्या स्व–अस्तित्व की निरन्तरता का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है? कुछ लोग तो पूर्वजन्म में स्व–अस्तित्व का ज्ञान अपनी स्मृति के माध्यम से कर लेते हैं। कुछ दूसरे लोग अतीन्द्रिय ज्ञानियों के कथन से इसको जान पाते हैं तथा कुछ और लोग उन लोगों से जान लेते हैं जो अतीन्द्रिय ज्ञानियों के सम्पर्क में आए हैं। (2) इस तरह से पूर्वजन्म में स्व–अस्तित्व का ज्ञान स्वयं को देखने से अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानियों के देखने से होता है। पूर्व जन्मों के ज्ञान से ही पुनर्जन्म के होने का विश्वास उत्पन्न हो सकता है। आचारांग ने पुनर्जन्म में विश्वास का पूर्व जन्म के ज्ञान पर आश्रित किया है। ऐसा लगता है कि महावीर–युग में व्यक्ति को पूर्वजन्म की स्मृति में उतारने की क्रिया वर्तमान थी और यह आध्यात्मिक उत्थान के प्रति जागृति का सबल माध्यम था। जन्मों–जन्मों में स्व–अस्तित्व के होने में विश्वास करने वाला ही आचारांग की दृष्टि में आत्मा को मानने वाला होता है। जन्मों–जन्मों पर विश्वास से देश–काल में तथा पुद्गलात्मक लोक में विश्वास उत्पन्न होता है। इसी से मन–वचन–काय की क्रियाओं और उनसे उत्पन्न प्रभावों को स्वीकार किया जाता है। आचारांग का कहना है कि जो मनुष्य पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को समझ लेता है, उसे ही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी कहा गया है (3) इसी आधार पर समाज में नैतिक–आध्यात्मिक मूल्यों का भवन खड़ा किया जा सकता है और सामाजिक उत्थान को वास्तविक बनाया जा सकता है।

क्रियाओं की विपरीतता

आचारांग इस बात पर खेद व्यक्त करता है कि मनुष्य के द्वारा मन–वचन–काय की क्रिया की सही दिशा समझी हुई नहीं है। इसीलिए उनसे उत्पन्न कुप्रभावों के कारण वह थका देने वाले एक जन्म से दूसरे जन्म में चलता जाता है और अनेक प्रकार की योनियों में सुखों–दुःखों का अनुभव करता रहता है (4) मनुष्य की क्रियाओं के प्रयोजनों का विश्लेषण करते हुए आचारांग का कहना है कि मनुष्य के द्वारा मन–वचन–काय की क्रियाएँ जिन प्रयोजनों से की जाती हैं वे हैं– (1) वर्तमान जीवन की रक्षा के प्रयोजन से; (2) प्रशंसा, आदर तथा पूजा पाने के प्रयोजन से; (3) भावी–जन्म की उधेड़बुन के कारण, वर्तमान में मरण–भय के कारण तथा परमशान्ति प्राप्त करने तथा दुःखों को दूर करने के प्रयोजन से (5,6)। जिसने क्रियाओं के इतने शुरूआत जान लिये हैं उसने ही क्रियाओं का ज्ञान प्राप्त किया है (7)। किन्तु दुःख की बात यह है कि मनुष्य इन विभिन्न प्रयोजनों की प्राप्ति के लिए विभिन्न जीवों की हिंसा करता है, उनकी हिंसा करवाता है तथा उनकी हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है (8 से 15)। आचारांग का कहना है कि क्रियाओं की यह विपरीतता जो हिंसा से प्रकट होती है, मनुष्य के अहित के लिए होती है, वह उसके अध्यात्महीन बने रहने का कारण होती है (8 से 15)। यह हिंसा–कार्य निश्चित ही बन्धन में डालने वाला है, मूर्च्छा में पटकने वाला है और अमंगल में धकेलने वाला है (16)। अतः क्रियाओं की विपरीतता का मापदण्ड है, हिंसा। जो क्रिया हिंसात्मक है वह विपरीत है। यहाँ हिंसा को व्यापक अर्थ में समझा जाना चाहिए। किसी प्राणी को मारना, उसको गुलाम बनाना, उस पर शासन करना आदि सभी क्रियाएँ हिंसात्मक हैं (72)। जब मन–वचन–काय की क्रियाओं की विपरीतता समाप्त होती है, तब मनुष्य न तो विभिन्न जीवों की हिंसा करता है, न हिंसा करवाता है और न ही हिंसा करने वालों का अनुमोदन करता है (17)। उसके जीवन में अहिंसा प्रकट हो जाती है अर्थात् न वह प्राणियों को मारता है, न उन पर शासन करता है, न उनको गुलाब बनाता है, न उनको सताता है और न ही उन्हें कभी किसी प्रकार से अशान्त करता है (72)। अतः कहा जा सकता है कि यदि क्रियाओं की विपरीतता का मापदण्ड हिंसा है तो उनकी उचितता का मापदण्ड अहिंसा होगा। जिसने भी हिंसात्मक क्रियाओं को द्रष्टाभाव से जान लिया, उसके हिंसा समझ में आ जाती है और धीरे–धीरे वह उससे छूट जाती है (17)।

क्रियाओं का प्रभाव

मन–वचन–काय की क्रियाओं की विपरीतता और उनकी उचितता का प्रभाव दूसरों पर पड़ता भी है और नहीं भी पड़ता है, किन्तु अपने आप पर तो प्रभाव पड़ ही जाता है। वे क्रियाएँ मनुष्य के व्यक्तित्व का अंग बन जाती हैं। इसे ही कर्म–बन्धन कहते हैं। यह कर्म–बन्धन ही व्यक्ति के सुखात्मक और दुःखात्मक जीवन का आधार होता है। इस विराट् विश्व में हिंसा व्यक्तित्व को विकृत कर देती है और अपने तथा दूसरों के दुःखात्मक जीवन का कारण बनती है। जबकि अहिंसा व्यक्तित्व को विकसित करती है और अपने तथा दूसरों के सुखात्मक जीवन का कारण बनती है। हिंसा विराट् प्रकृति के विपरीत है। अतः वह हमारी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी होने से रोकती है और ऊर्जा को विनाश में लगा देती है, किन्तु अहिंसा विराट् प्रकृति के अनुकूल होने से हमारी ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए मार्ग–प्रशस्त करती है और ऊर्जा को रचना में लगा देती है। हिंसात्मक क्रियाएँ मनुष्य की चेतना को सिकोड़ देती हैं और उसको पतन की ओर ले जाती हैं, अहिंसात्मक क्रियाएँ मनुष्य की चेतना को विकास की ओर ले जाती हैं। इस प्रकार इन क्रियाओं का प्रभाव मनुष्य पर पड़ता है। अतः आचारांग ने कहा है कि जो मनुष्य कर्म–बन्धन और कर्म से छुटकारे के विषय में खोज करता है वह शुद्ध–बुद्धि होता है (50)।

मूर्च्छित मनुष्य की दशा

वास्तविक स्व–अस्तित्व का विस्मरण ही मूर्च्छा है। इसी विस्मरण के कारण मनुष्य व्यक्तिगत अवस्थाओं और सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न सुख–दुःख से एकीकरण करके सुखी–दुःखी होता रहता है। मूर्च्छित मनुष्य स्व–अस्तित्व (आत्मा) के प्रति जागरूक नहीं होता है, वह अशांति से पीड़ित होता है, समता–भाव से दरिद्र होता हे, उसे अहिंसा पर आधारित मूल्यों का ज्ञान देना कठिन होता है तथा वह अध्यात्म को समझने वाला नहीं होता है (18)। मूर्च्छित मनुष्य इन्द्रिय–विषयों में ही ठहरा रहता है (22)। वह आसक्ति–युक्त होता है और कुटिल आचरण में ही रत रहता है (22)। वह हिंसा करता हुआ भी दूसरों को अहिंसा का उपदेश देता रहता है (25)। इस तरह से वह अर्हत् (जीवन–मुक्त) की आज्ञा के विपरीत चलने वाला होता है (22, 96)। स्व–अस्तित्व के प्रति जागरूक होना ही अर्हत् की आज्ञा में रहना है। इस जगत् में यह विचित्रता है कि सुख देने वाली वस्तु दुःख देने वाली बन जाती है और दुःख देने वाली वस्तु सुख देने वाली बन जाती है। मूर्च्छित (आसक्ति–युक्त) मनुष्य इस बात को देख नहीं पाता है (39)। इसलिए वह सदैव वस्तुओं के प्रति आसक्त बना रहता हे, यही उसका अज्ञान है (44)। विषयों में लोलुपता के कारण वह संसार में अपने लिए वैर की वृद्धि करता रहता है (45) और बार–बार जन्म–धारण करता रहता है (53)। अतः कहा जा सकता है कि मूर्च्छित (अज्ञानी) मनुष्य सदा सोया हुआ अर्थात् सत्मार्ग को भूला हुआ होता है (52)। जो मनुष्य मूर्च्छा रूपी अन्धकार में रहता है वह एक प्रकार से अन्धा ही है। वह इच्छाओं में आसक्त बना रहता है और उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए वह प्राणियों की हिंसा में संलग्न होता है (98)। वह प्राणियों को मारने वाला, छेदने वाला, उनकी हानि करने वाला तथा उनको हैरान करने वाला होता है (29)। इच्छाओं के तृप्त न होने पर वह शोक करता है, क्रोध करता है, दूसरों को सताता है और उनको नुकसान पहुँचाता है (43)। यहाँ यह समझना चाहिए कि सतत हिंसा में संलग्न रहने वाला व्यक्ति भयभीत व्यक्ति होता है। आचारांग ने ठीक ही कहा है कि प्रमादी (मूर्च्छित) व्यक्ति को सब ओर से भय होता है (69)। वह सदैव मानसिक तनावों से भरा रहता है। चूँकि उसके अनेक चित्त होते हैं, इसलिए उसका अपने लिए शांति (तनाव–मुक्ति) का दावा करना ऐसे ही है जैसे कोई चलनी को पानी से भरने का दावा करे (60)। मूर्च्छित मनुष्य संसाररूपी प्रवाह में तैरने के लिए बिल्कुल समर्थ नहीं होता है (37)। वह भोगों का अनुमोदन करने वाला होता है तथा दुःखों के भँवर में ही फिरता रहता है (38)। वह दिन–रात दुःखी होता हुआ जीता है। वह काल–अकाल में तुच्छ वस्तुओं की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता रहता है। वह केवल स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध का अभिलाषी होता है। वह धन का लालची होता है तथा व्यवहार में ठगने वाला होता है। वह बिना विचार किए कार्यों को करने वाला होता है तथा विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिए बार–बार शस्त्रों/हिंसा के प्रयोग को ही महत्त्व देता है (26)।

आध्यात्मिक प्रेरक तथा उनसे प्राप्त शिक्षा

यह मूर्च्छित मनुष्यों का जगत् है। ऐसा होते हुए भी यह जगत् मनुष्य को ऐसे अनुभव प्रदान करने के लिए सक्षम है, जिनके द्वारा वह अपने आध्यात्मिक उत्थान के लिए प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। मनुष्य कितना ही मूर्च्छित क्यों न हो फिर भी बुढ़ापा, मृत्यु और धन–वैभव की अस्थिरता उसको एक बार जगत् के रहस्य को समझने के लिए बाध्य कर ही देते हैं। यह सच है कि कुछ मनुष्यों के लिए यह जगत् इन्द्रिय–तुष्टि का ही माध्यम बना रहता है (74), किन्तु कुछ मनुष्य ऐसे संवेदनशील होते हैं कि यह जगत् उनकी मूर्च्छा को आखिर तोड़ ही देता है।

मनुष्य देखता है कि प्रति क्षण उसकी आयु क्षीण हो रही है। अपनी बीती हुई आयु को देखकर वह व्याकुल होता है और बुढ़ापे में उसका मन गड़बड़ा जाता है। जिनके साथ वह रहता है, वे ही आत्मीय–जन उसको बुरा–भला कहने लगते हैं और वह भी उनको बुरा–भला कहने लग जाता है। बुढ़ापे की अवस्था में वह

मनोरंजन के लिए, क्रिड़ा के लिए तथा प्रेम के लिए नीरसता व्यक्त करता है (27)। अतः आचारांग का शिक्षण है कि ये आत्मीय–जन मनुष्य के सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होते हैं और वह भी उनके सहारे के लिए पर्याप्त नहीं होता है (27)। इस प्रकार मनुष्य बुढ़ापे को समझकर आध्यात्मिक प्रेरणा ग्रहण करे तथा संयम के लिए प्रयत्नशील बने और वर्तमान मनुष्य–जीवन के संयोग को देखकर आसक्ति–रहित बनने का प्रयास करे (28)। आचारांग का कथन है कि हे मनुष्यों! आयु बीत रही है, यौवन भी बीत रहा है, अतः प्रमाद (आसक्ति) में मत फँसो (28)। जब तक इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हो, तब तक ही स्व–अस्तित्व के प्रति जागरूक होकर आध्यात्मिक विकास में लगो (30)।

आचारांग सर्व–अनुभूत तथ्य को दोहराता है कि मनुष्य के लिए किसी भी क्षण न आना नहीं है (36)। इसी बात को रखते हुए आचारांग फिर कहता है कि मनुष्य इस देह–संगम को देखे। यह देह–संगम छूटता अवश्य है। इसका तो स्वभाव ही नश्वर है। यह अध्रुव है, अनित्य है और अशाश्वत है (85)। आचारांग उनके प्रति आश्चर्य प्रकट करता है जो मृत्यु के द्वारा पकड़े हुए होने पर भी संग्रह में आसक्त होते हैं (74)। मृत्यु की अनिवार्यता हमारी आध्यात्मिक प्रेरणा का कारण बन सकती है। कुछ मनुष्य इससे प्रेरणा ग्रहण कर अनासक्ति की साधना में लग जाते हैं।

धन–वैभव में मनुष्य सबसे अधिक आसक्त होता है। चूँकि जीवन की सभी आवश्यकताएँ इसी से पूरी होती हैं, इसलिए मनुष्य इसका संग्रह करने के लिए सभी प्रकार के उचित–अनुचित कर्म में संलग्न हो जाता है। आचारांग आसक्त मनुष्य का ध्यान धन–वैभव के नाश की ओर आकर्षित करते हुए कहता है कि कभी चोर धन–वैभव का अपहरण कर लेते हैं, कभी राजा उसको छीन लेता है और कभी वह घर–दहन में जला दिया जाता है (37)। धन–वैभव का नाश कुछ मनुष्यों को आध्यात्मिक प्रेरणा देकर उनको आत्म–जागृति की स्थिति में लाने के लिए समर्थ हो सकता है।

इस तरह से जब मूर्च्छित मनुष्य को संसार की निस्सारता का भान होने लगता है (61), तो उसकी मूर्च्छा की सघनता धीरे–धीरे कम होती जाती है और वह अध्यात्म–मार्ग की ओर चल पड़ता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि यदि अध्यात्म में प्रगति किया हुआ व्यक्ति मिल जाए, तो भी मूर्च्छित मनुष्य जागृत स्थिति में छलाँग लगा सकता है (93)। इस तरह से बुढ़ापा, मृत्यु, धन–वैभव का नाश, संसार की निस्सारता और जागृत मनुष्य के दर्शन – ये सभी मूर्च्छित मनुष्य को आध्यात्मिक प्रेरणा देकर उसमें स्व–अस्तित्व का बोध पैदा कर सकते हैं।

आन्तरिक रूपान्तरण और साधना के सूत्र

आत्म–जागृति अथवा स्व–अस्तित्व के बोध के पश्चात् आचारांग मनुष्य को चारित्रात्मक आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व को बतलाते हुए साधना के ऐसे सारभूत सूत्रों को बतलाता है जिससे उसकी साधना पूर्णता को प्राप्त हो सके। कहा है कि– हे मनुष्य! तू ही तेरा मित्र है (66), तू अपने मन को रोक कर जी (61)। जो सुन्दर चित्तवाला है, वह व्याकुलता में नहीं फँसता है (68)। तू मानसिक विषमता (राग–द्वेष) के साथ ही युद्ध कर, तेरे लिए बाहरी व्यक्तियों से युद्ध करने से क्या लाभ (99)? बंध (अशांति) और मोक्ष (शान्ति) तेरे अपने मन में ही है (97)। धर्म न गाँव में होता है और न जंगल में, वह तो एक प्रकार का आन्तरिक रूपान्तरण है (96)। कहा गया है कि जो ममतावाली वस्तु–बुद्धि को छोड़ता है, वह ममतावाली वस्तु को छोड़ता है, जिसके लिए कोई ममतावाली वस्तु नहीं है, वह ही ऐसा ज्ञानी है, जिसके द्वारा अध्यात्म–पथ जाना गया है (46)।

आन्तरिक रूपान्तरण के महत्त्व को समझाने के बाद आचारांग ने हमे साधना की दिशाएँ बताई हैं। ये दिशाएँ ही साधना के सूत्र हैं। (i) अज्ञानी मनुष्य का बाह्य जगत् से सम्पर्क उसमें आशाओं और इच्छाओं को जन्म देता है। मनुष्यों से वह अपनी आशाओं की पूर्ति चाहने लगता है और वस्तुओं की प्राप्ति के द्वारा वह इच्छाओं की तृप्ति चाहता है। इस तरह से मनुष्य आशाओं और इच्छाओं का पिण्ड बना रहता है। ये ही उसके मानसिक तनाव, अशान्ति और दु:ख के कारण होते हैं (39)। इसलिए आचारांग का कथन है कि मनुष्य आशा और इच्छा को त्यागे (39)। (ii) जो व्यक्ति इन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है, वह बहिर्मुखी ही बना रहता है, जिसके फलस्वरूप उसके कर्म–बंधन नहीं हटते हैं और उसके विभाव–संयोग (राग–द्वेषात्मक भाव) नष्ट नहीं होते हैं (78)। अत: इन्द्रिय–विषय में अनासक्ति साधना के लिए आवश्यक है। यहीं से संयम की यात्रा प्रारम्भ होती है (53)। आचारांग का कथन है कि हे मनुष्य! तू अनासक्त हो जा और अपने को नियन्त्रित कर (76)। जैसे अग्नि जीर्ण (सूखी) लकड़ियों को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार अनासक्त व्यक्ति राग–द्वेष को नष्ट कर देता है (76)। (iii) कषाएँ मनुष्य की स्वाभाविकता को नष्ट कर देती हैं। कषायों का राज मोह है। जो एक मोह को नष्ट कर देता है, वह बहुत कषायों को नष्ट कर देता है (69)। अहंकार मृदु सामाजिक सम्बन्धों तथा आत्म–विकास का शत्रु है। कहा है कि उत्थान का अहंकार होने पर मनुष्य मूढ़ बन जाता है (91)। जो क्रोध आदि कषायों को तथा अहंकार को नष्ट करके चलता है, वह संसार–प्रवाह को नष्ट कर देता है (62–70)। (iv) मानव– समाज में न कोई नीच है और न कोई उच्च है (34)। सभी के साथ समतापूर्ण व्यवहार किया जाना चाहिए। आचारांग के अनुसार समता में ही धर्म है (88)। (v) इस जगत् में सब प्राणियों के लिए पीड़ा अशान्ति है, दु:ख–युक्त है (23)। सभी प्राणियों के लिए यहाँ सुख अनुकूल होते हैं, दु:ख प्रतिकूल होते हैं, वध अप्रिय होते हैं तथा जिन्दा रहने की अवस्थाएँ प्रिय होती हैं। सब प्राणियों के लिए जीवन प्रिय होता है (36)। अत: आचारांग का कथन है कि कोई भी प्राणी मारा नहीं जाना चाहिए, गुलाम नहीं बनाया जाना चाहिए, शासित नहीं किया जाना चाहिए, सताया नहीं जाना चाहिए और अशान्त नहीं किया जाना चाहिए। यही धर्म शुद्ध है, नित्य है और शाश्वत है (72)। जो अहिंसा का पालन करता है, वह निर्भय हो जाता है (69)। हिंसा तीव्र से तीव्र होती है, किन्तु अहिंसा सरल होती है (69)। अत: हिंसा को मनुष्य त्यागे। प्राणियों में तात्त्विक समता स्थापित करते हुए आचारांग अहिंसा–भावना को दृढ़ करने के लिए कहता है कि जिसको तू मारे जाने योग्य मानता है; वह तू ही है; जिसको तू शासित किए जाने योग्य मानता है, वह तू ही है; जिसको तू सताए जाने योग्य मानता है, वह तू ही है; जिसको तू गुलाम बनाए जाने योग्य मानता है, वह तू ही है; जिसको तू अशान्त किए जाने योग्य मानता है, वह तू ही है; (94)। इसलिए ज्ञानी, जीवों के प्रति दया का उपदेश दो और दया पालन की प्रशंसा करो (101)। (4) आचारांग ने समता और अहिंसा की साधना के साथ सत्य की साधना को भी स्वीकार किया है। आचारांग का शिक्षण है कि हे मनुष्य! तू सत्य का निर्णय कर, सत्य में धारणा कर और सत्य की आज्ञा में उपस्थित रह (59, 68)। (7) संग्रह, समाज में आर्थिक विषमता पैदा करता है। अत: आचारांग का कथन है कि मनुष्य अपने को परिग्रह से दूर रखे (42)। बहुत भी प्राप्त करके वह उसमें आसक्तियुक्त न बने (42)। (viii) आचारांग में समतादर्शी (अर्हत्) की आज्ञा–पालन को कर्त्तव्य कहा गया है (99)। कहा है कि कुछ लोग समतादर्शी की अनाज्ञा में भी तत्परता सहित होते हैं, कुछ लोग उसकी आज्ञा में भी आलसी होते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए (96)। यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या मनुष्य के द्वारा आज्ञा पालन किए जाने को महत्त्व देना उसकी स्वतन्त्रता का हनन नहीं है? उत्तर में कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का हनन तब होता है जब बुद्धि या तर्क से सुलझाई जाने वाली समस्याओं में भी आज्ञा–पालन को महत्त्व दिया जाए। किन्तु, जहाँ बुद्धि की पहुँच न हो ऐसे आध्यात्मिक रहस्यों के क्षेत्र में आत्मानुभवी (समतादर्शी) की आज्ञा का पालन ही साधक के लिए आत्म–विकास का माध्यम बन सकता है। संसार को जानने के लिए संशय अनिवार्य है (83), पर समाधि में पहुँचने के लिए समतादर्शी की आज्ञा में चलना आवश्यक है। संशय से विज्ञान जन्मता है, पर आत्मानुभवी की आज्ञा में चलने से ही समाधि अवस्था तक पहुँचा जा सकता है।

अतः आचारांग ने अर्हत् की आज्ञा पालन को कर्त्तव्य कहकर आध्यात्मिक रहस्यों को जानने के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। (ix) मनुष्य लोक की प्रशंसा प्राप्त करना चाहता है, पर लोक असाधारण कार्यों की बड़ी मुश्किल से प्रशंसा करता है। उसकी पहुँच तो सामान्य कार्यों तक ही होती है। मूल्यों का साधक व्यक्ति असाधारण व्यक्ति होता है, अतः उसको अपने क्रान्तिकारी कार्यों के लिए प्रशंसा मिलना कठिन होता है। प्रशंसा का इच्छुक प्रशंसा न मिलने पर कार्यों को निश्चय ही छोड़ देगा। आचारांग ने मनुष्य की इस वृत्ति को समझकर कहा है कि मूल्यों का साधक लोक के द्वारा प्रशंसित होने के लिए इच्छा ही न करे (73)। वह तो व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में मूल्यों की साधना से सदैव जुड़ा रहे।

साधना की पूर्णता

साधना की पूर्णता होने पर हमें ऐसे महामानव के दर्शन होते हैं, जो व्यक्ति के विकास और सामाजिक प्रगति के लिये प्रेरणा–स्तम्भ होता है। आचारांग में ऐसे महामानव की विशेषताओं को बड़ी सूक्ष्मता से दर्शाया गया है। उसे द्रष्टा, अप्रमादी, जाग्रत, अनासक्त, वीर, कुशल आदि शब्दों से इंगित किया गया है। (1) द्रष्टा के लिए कोई उपदेश शेष नहीं है (38)। उसका कोई नाम नहीं है (71)। (ii) उसकी आँखे विस्तृत होती हैं अर्थात् वह सम्पूर्ण लोक को देखने वाला होता है (44)। (iii) वह बन्धन और मुक्ति के विकल्पों से परे होता है (50)। वह शुभ–अशुभ, आदि दोनों अन्तों से नहीं कहा जा सकता है, इसलिए वह द्वन्द्वातीत होता है (56,64) और उसका अनुभव किसी के द्वारा न छेदा जा सकता है, न भेदा जा सकता है, न जलाया जा सकता है तथा न नष्ट किया जा सकता है (64)। वह किसी भी विपरीत परिस्थिति में खिन्न नहीं होता है और वह किसी भी अनुकूल परिस्थिति में खुश नहीं होता है। वास्तव में वह तो समता–भाव में स्थित रहता है (47)। (iv) वह पूर्ण जागरूकता से चलने वाला होता है अतः वह वीर हिंसा से संलग्न नहीं किया जाता है (49)। वह सदेव ही आध्यात्मिकता में जागता है (51)। (v) वह अनुपम प्रसन्नता में रहता है (48)। (vi) वह कर्मों से रहित होता है। उसके लिए सामान्य लोक प्रचलित आचरण आवश्यक नहीं होता है (55)। किन्तु उसका आचरण व्यक्ति व समाज के लिए मार्गदर्शक होता है। वह मूल्यों से अलगाव को तथा पशु–प्रवृत्तियों के प्रति लगाव को समाज के जीवन में सहन नहीं करता है (47)। आचारांग का शिक्षण है कि जिस काम को जागृत व्यक्ति करता है, व्यक्ति व समाज उसको करे (50)। (vii) वह इन्द्रियों के विषयों में द्रष्टाभाव से जाना हुआ होता है, इसलिए वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् कहा जा सकता है (52)। (viii) जो लोक में परम तत्त्व को देखने वाला है, वह वहाँ विवेक से जीने वाला होता है, वह तनाव से मुक्त समतावान्, कल्याण करने वाला, सदा जितेन्द्रिय, कार्यों के लिए उचित समय को चाहने वाला होता है तथा वह अनासक्तिपूर्वक लोक में गमन करता है (58)। (ix) उस महामानव के आत्मानुभव का वर्णन करने में सब शब्द लौट आते हैं, उसके विषय में कोई तर्क उपयोगी नहीं होता है, बुद्धि उसके विषय में कुछ भी पकड़ने वाली नहीं होती है (97)। आत्मानुभव की वह अवस्था आभामयी होती है। वह केवल ज्ञाता–द्रष्टा–अवस्था होती है (97)।

भगवान महावीर का साधनामय जीवन

आचारांग ने भगवान महावीर के साधनामय जीवन पर प्रकाश डाला है। यह जीवन किसी भी साधक के लिए प्रेरणा स्रोत बन सकता है। महावीर सांसारिक परतन्त्रता को त्यागकर आत्मस्वातन्त्र्य के मार्ग पर चल पड़े (103)। उनकी साधना में ध्यान प्रमुख था। वे लगभग तीन घण्टे तक बिना पलक झपकाए आँखों को भीत पर लगाकर आन्तरिक रूप से ध्यान करते थे (104) यदि महावीर गृहस्थों से युक्त स्थान में ठहरते थे तो भी वे उनसे मेलजोल न बढ़ाकर ध्यान में ही लीन रहते थे। बाधा उपस्थित होने पर वे वहाँ से चले जाते थे। वे ध्यान की तो कभी उपेक्षा नहीं करते थे (105)। महावीर अपने समय को कथा, नाच–गान में, लाठी–युद्ध तथा मूठी–युद्ध को देखने में नहीं बिताते थे (106)। काम–कथा तथा कामातुर इशारों में वे हर्ष–शोक रहित

होते थे (107)। वे प्राणियों की हिंसा से बचकर विहार करते थे (108)। वे खाने–पीने की मात्रा को समझने वाले थे और रसों में कभी लालायित नहीं होते थे (109)। महावीर कभी शरीर को नहीं खुजलाते थे और आँखों में कुछ गिरने पर आँखों को पोंछते भी नहीं थे (110)। वे कभी शून्य घरों में, कभी लुहार, कुम्हार आदि के कर्म–स्थानों में, कभी बगीचे में, श्मशान में और कभी पेड़ के नीचे ठहरते थे और संयम में सावधानी बरतते हुए ध्यान करते थे (112,113,114)। महावीर सोने में आनन्द नहीं लेते थे। नींद आती तो अपने को खड़ा करके जगा लेते थे। वे थोड़ा सोते अवश्य थे पर नींद की इच्छा रखकर नहीं (115)। यदि रात में उनको नींद सताती, तो वे आवास से बाहर निकलकर इधर–उधर घूम कर फिर जागते हुए ध्यान में बैठ जाते थे (116)।

महावीर ने लौकिक तथा अलौकिक कष्टों को समतापूर्वक सहन किया (117,118)। विभिन्न परिस्थितियों में हर्ष और शोक पर विजय प्राप्त करके वे समता–युक्त बने रहे (119)। लाढ देश के लोगों ने उनको बहुत हैरान किया। वहाँ कुछ लोग ऐसे थे जो महावीर के पीछे कुत्तों को छोड़ देते थे। कुछ लोग उन पर विभिन्न प्रकार से प्रहार करते थे (120,121,122)। किन्तु, जैसे कवच से ढका हुआ योद्धा संग्राम के मोर्चे पर रहता है, वेसे ही वे महावीर वहाँ दुर्व्यवहार को सहते हुए आत्म–नियन्त्रित रहे (123)।

दो मास से अधिक अथवा छः मास तक भी महावीर कुछ नहीं खाते–पीते थे। रात–दिन वे राग–द्वेष–रहित रहे (124)। कभी वे दो दिन के उपवास के बाद में, कभी तीन दिन के उपवास के बाद में, कभी चार अथवा पाँच दिन के उपवास के बाद में भोजन करते थे (125)। वे गृहस्थ के लिए बने हुए विशुद्ध आहार की ही भिक्षा ग्रहण करते थे और उसको वे समता–युक्त बने रहकर उपयोग में लाते थे (127)।

महावीर कषाय रहित थे। वे शब्दों और रूपों में अनासक्त रहते थे। जब वे असर्वज्ञ थे, तब भी उन्होंने साहस के साथ संयम–पालन करते हुए एक बार भी प्रमाद नहीं किया (128)। महावीर जीवन पर्यन्त समता–युक्त रहे (129)।

आचारांग सूत्र के चयनित सूत्रों की व्याख्या

1. **सुयं मे आउसं! तेणं भगवया एवमक्खायं—इहमेगेसिं णो सण्णा भवति। तं जहा—**

पुरत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
दाहिणाओ वा दिसाओ आगतो अहमंसि,
पच्चत्थिमातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
उत्तरातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
उड्ढातो वा दिसातो आगतो अहमंसि,
अधेदिसातो वा आगतो अहमंसि,
अन्नतरीतो दिसातो वा अणु-दिसातो वा आगतो अहमंसि।
एवमेगेसिं णो णातं भवति—अत्थि मे आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए, के अहं आसी, के वा इओ चुते पेच्चा भविस्सामि। (1/1/1)

अर्थ— हे आयुष्मन् (चिरायु)! मेरे द्वारा (यह) सुना हुआ (है) (कि) उन भगवान के द्वारा इस प्रकार (यह) कहा गया (है)— यहाँ कई (मनुष्यों) में (यह) होश नहीं होता है। जैसे—

मैं, पूर्व दिशा से आया हूँ,
या मैं दक्षिण दिशा से आया हूँ,
या मैं पश्चिम दिशा से आया हूँ,
या मैं उत्तर दिशा से आया हूँ,
या मैं ऊपर की दिशा से आया हूँ,
या मैं नीचे की दिशा से आया हूँ,
या (मैं) अन्य ही दिशाओं से (आया हूँ),
या मैं ईशान कोण आदि दिशाओं से आया हूँ,

इसी प्रकार कई (मनुष्यों) के द्वारा (यह) समझा हुआ नहीं होता है (कि) मेरी (स्वयं की) आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है, (या) मेरी (स्वयं की) आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली नहीं है, (पिछले जन्म में) मैं कौन था? या (जब) मैं (मरकर) इस लोक से अलग हुआ (हूँ), (तो) आगामी जन्म में (मैं) क्या होऊँगा?

विवेचन— सुयं मे आउसं! तेण भगवया एवमक्खायं— का भाव यह है कि— भगवान के निकट में रहते हुए तथा उनके चरणों का स्पर्श करते हुए मैंने यह सुना है। इससे सूचित होता है कि सुधर्मा स्वामी ने यह वाणी भगवान महावीर से साक्षात् उनके बहुत निकट रहकर सुनी है।

संज्ञा का अर्थ है— चेतना। इसके दो प्रकार हैं— ज्ञान चेतना और अनुभव चेतना। अनुभव चेतना (संवेदन) प्रत्येक प्राणी में रहती है, इसके 4, 10 या 16 भेद होते हैं—

चार— आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा, परिग्रह संज्ञा।

दस— उपर्युक्त 4 + क्रोध, मान, माया, लोभ, लोक और ओघ।

सोलह— उपर्युक्त 10 + सुख, दुःख, मोह, विचिकित्सा, शोक, धर्म।

ज्ञान चेतना— विशेष बोध। किसी में कम किसी में अधिक होती है, इसके 5 भेद हैं— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान, केवलज्ञान।

दिशाएँ– दो प्रकार की– द्रव्य एवं भाव। प्रत्येक के क्रमशः 4, 6, 10 व 18 भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं–

चार– द्रव्य दिशा– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण।

भाव दिशा– नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति, देव गति।

छह– द्रव्यदिशा– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊँची, नीची।

भाव दिशा– नरक, असन्नी तिर्यञ्च, सन्नी तिर्यञ्च, असन्नी मनुष्य, सन्नी मनुष्य, देव।

दस– द्रव्य दिशा– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण + 4 अनुदिशाएँ (नैऋत्य, वायव्य, आग्नेय, ईशान) + ऊँची, नीची।

भाव दिशा– नरक, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, असन्नी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, सन्नी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, कर्म भूमि मनुष्य, अकर्म भूमि मनुष्य, अन्तर्द्वीप मनुष्य, असन्नी मनुष्य, देव।

अठारह– द्रव्य दिशा– पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण + 4 अनुदिशाएँ (नैऋत्य, वायव्य, आग्नेय, ईशान) इन आठों के मध्य की 8 विदिशा = 16 + ऊँची, नीची – 18

भाव दिशा– मनुष्य की चार – सम्मूर्च्छिम, कर्म भूमि, अकर्म भूमि, अन्तर्द्वीप।

तिर्यञ्च की चार– बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

स्थावर की चार– पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय।

वनस्पति की चार– अग्रबीज, मूलबीज, स्कन्ध बीज, पर्वबीज। ये 16 + नारकी + देवता = 18 भाव दिशा।

अनेक जीवों को यह ज्ञान ही नहीं होता कि मैं इन दिशाओं में से किस दिशा से आया हूँ।

2. **से ज्जं पुण जाणेज्जा सहसम्मुइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं वा अंतिए सोच्चा।** (1/1/2)

अर्थ– इसके विपरीत वह (कोई मनुष्य उपर्युक्त बातों को) (इन तरीकों से) जान लेता है। (1) स्वकीय स्मृति के द्वारा (2) दूसरों (अतीन्द्रिय ज्ञानियों) के कथन के द्वारा (3) अथवा दूसरों (अतीन्द्रिय) ज्ञानियों के सम्पर्क से समझे हुए व्यक्तियों) के समीप सुनकर।

विवेचन– इस सूत्र में आत्मा को जानने के तीन साधन बताये हैं:–

(1) पूर्वजन्म की स्मृति रूप जातिस्मरण ज्ञान तथा अवधिज्ञान आदि ज्ञान होने पर स्वमति से।

(2) तीर्थंकर, केवली आदि का प्रवचन सुनकर।

(3) तीर्थंकर के प्रवचनानुसार उपदेश करने वाले विशिष्ट ज्ञानी के निकट में उपदेश आदि सुनकर।

इनमें से किसी से भी पूर्वजन्म का बोध हो सकता हे, जिससे उसका ज्ञान निश्चयात्मक हो जाता है कि इन पूर्वादि दिशाओं में जो गमनागमन करती है, वह आत्मा "मैं" ही हूँ।

3. **से आयावादी लोगावादी कम्मावादी किरियावादी।** (1/1/3)

अर्थ– (जो यह जान लेता है कि उसकी आत्मा अमुक दिशा से आई है तथा वह पुनर्जन्म लेने वाली है)

वह (व्यक्ति) (ही) आत्मा को मानने वाला (होता है), (अजीव– पुद्गलादि) लोक को मानने वाला (होता है), कर्म (बन्धन) को मानने वाला (होता है) (और) (मन–वचन–काय की) क्रियाओं को मानने वाला (होता है)।

विवेचन– जो दिशा, अनुदिशा और विदिशाओं में संचरण करने वाली परिणामी और स्वभाव से शाश्वत आत्मा में विश्वास करता है, वह आत्मवादी होता है। आत्मा को मानने वाला लोक–स्थिति को स्वीकार करता है, क्योंकि आत्मा का भवान्तर–संचरण लोक में ही होता है। लोक में आत्मा का परिभ्रमण कर्म के कारण होता है, इसलिए लोक को मानने वाला कर्म को भी मानेगा। कर्मबन्ध का कारण है क्रिया अर्थात् शुभाशुभ योगों की प्रवृत्ति। अतः कर्म को मानने वाला उसके कारण क्रिया को मानेगा। इस प्रकार आत्मा का सम्यक् परिज्ञान हो जाने पर लोक, कर्म व क्रिया का परिज्ञान भी हो जाता है।

4. **तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता। इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण–माणण–जाती–मरण–मोयणाए दुक्खपडिघातहेतुं।**(1/1/7)

अर्थ– उस (मनुष्य) के लिए ही भगवान के द्वारा (इस प्रकार) ज्ञान दिया हुआ (है)। (मनुष्य के द्वारा मन–वचन–काय की क्रियाएँ इन बातों के लिए की जाती है) (1) इस ही (वर्तमान) जीवन (की रक्षा) के लिए, (2) प्रशंसा, आदर तथा पूजा (पाने) के लिए, (3) (भावी) जन्म (की उधेड़बुन) के कारण (वर्तमान में) मरण (भय) के कारण तथा मोक्ष (परमशान्ति) के लिए (और) दुःखों को दूर हटाने के लिए।

विवेचन– कर्मबन्ध के कारण रूप क्रिया के स्वरूप से अनभिज्ञ के विषय में भगवान ने परिज्ञा का उपदेश दिया है। परिज्ञा का अर्थ है– ज्ञान अथवा चेतना। परिज्ञा के दो भेद हैं– (1) ज्ञ–परिज्ञा– वस्तुतत्त्व का यथार्थ परिज्ञान। (2) प्रत्याख्यान परिज्ञा– हिंसादि व कर्मबन्ध के हेतुओं का त्याग।

मनुष्य इन आठ हेतुओं से कर्म सभारंभ अर्थात् हिंसा करते हैं– (1) अपने इस जीवन के लिए; (2) प्रशंसा व यश के लिए; (3) सम्मान की प्राप्ति के लिए; (4) पूजा आदि पाने के लिए; (5) सन्तानादि के जन्म या अपने जन्म दिवस पर; (6) मृत्यु सम्बन्धी कारणों व प्रसंगों पर; (7) मुक्ति की प्रेरणा या लालसा से; (8) दुःख के प्रतिकार के लिए अर्थात् रोग, आतंक, उपद्रव आदि मिटाने के लिए।

इन आठ हेतुओं को चार में भी समाहित किया जा सकता है– (1) इस जीवन के लिए; (2) प्रशंसा, सम्मान और पूजा पाने के लिए; (3) जन्म–मरण से मुक्ति पाने के लिए; व (4) दुःख का प्रतिकार करने के लिए।

5. **इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदण–माणण–पूयणाए, जाती–मरण– मोयणाए, दुक्खपडिघातहेउं से सयमेव पुढविसत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेति, अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभते समणुजाणति। तं से अहिताए, तं से अबोहीए।**(1/2/13)

अर्थ– (यह दुःख की बात है कि) वह (कोई मनुष्य) इस ही (वर्तमान) जीवन (की रक्षा) के लिए, प्रशंसा, आदर तथा पूजा (पाने) के लिए, (भावी) जन्म (की उधेड़बुन) के कारण, (वर्तमान में) मरण (भय) के कारण तथा मोक्ष (परमशान्ति) के लिए (और) दुःखों को दूर हटाने के लिए स्वयं ही पृथ्वीकायिक जीव–समूह की हिंसा करता है या दूसरों के द्वारा पृथ्वीकायिक जीव–समूह की हिंसा करवाता है, या पृथ्वीकायिक जीव–समूह की हिंसा करते हुए (करने वाले) दूसरों का अनुमोदन करता है। वह (हिंसा–कार्य) उसके लिए अध्यात्महीन बने रहने का (कारण) (होता है)।

विवेचन– उपर्युक्त 8 कारणों के लिए वह व्यक्ति स्वयं 6 काय जीवों (पृथ्वीकाय आदि) का स्वयं समारम्भ करता है, दूसरों से करवाता है और आरम्भ करने वालों की अनुमोदना करता है। यह छः काय की

हिंसा उसके लिए अहितकारी होती है, क्योंकि हिंसा का फल कटु होता है। वह हिंसा उसे दुर्लभबोधि बना देती है अर्थात् सम्यक्त्व प्राप्त नहीं होने देती। अध्यात्महीन बने रहने का कारण भी होती है।

6. **से बेमि— इमं पि जातिधम्मयं, एयं पि जातिधम्मयं;**
इमं पि वुड्ढिधम्मयं, एयं पि वुड्ढिधम्मयं;
इमं पि चित्तमंतयं, एयं पि चित्तमंतयं;
इमं पि छिण्णं मिलाति, एयं पि छिण्णं मिलाति;
इमं पि आहारगं, एयं पि आहारगं;
इमं पि अणितियं, एयं पि अणितियं;
इमं पि असासयं, एयं पि असासयं;
इमं पि चयोवचइयं, एयं पि चयोवचइयं;
इमं पि विप्परिणामधम्मयं, एयं पि विपरिणामधम्मयं।

(1/5/45)

अर्थ— वह मनुष्य और वनस्पतिकायिक जीव की तुलना मैं कहता हूँ– यह (मनुष्य) भी उत्पत्ति स्वभाव (वाला) (होता है)
यह (वनस्पति) भी उत्पत्ति स्वभाव (वाली) (होती है),
यह (मनुष्य) भी बढ़ोतरी स्वभाव (वाला) (होता है),
यह (वनस्पति) भी बढ़ोतरी स्वभाव (वाली) (होती है),
यह (मनुष्य) भी चेतना वाला (होता है),
यह (वनस्पति) भी चेतना वाली (होती है),
यह (मनुष्य) भी कटा हुआ उदास होता है,
यह (वनस्पति) भी कटी हुई उदास होती है,
यह (मनुष्य) भी आहार करने वाला (होता है),
यह (वनस्पति) भी आहार करने वाली (होती है),
यह (मनुष्य) भी नाशवान् (होता है),
यह (वनस्पति) भी नाशवान् (होती है),
यह (मनुष्य) भी हमेशा न रहने वाला (होता है),
यह (वनस्पति) भी हमेशा न रहने वाली (होती है),
यह (मनुष्य) भी बढ़ने (वाला) और क्षय वाला (होता है),
यह (वनस्पति) भी बढ़ने (वाली) और क्षय वाली (होती है),
यह (मनुष्य) भी (अवस्था में) परिवर्तन स्वभाव (वाला) (होता है),
यह (वनस्पति) भी (अवस्था में) परिवर्तन स्वभाव (वाली) (होती है)।

विवेचन— इस सूत्र में मनुष्य और वनस्पतिकाय के जीवों की तुलना करके उनकी समानताओं का कथन किया गया है— जैसे मनुष्य जन्म लेता है, बढ़ता है, सुख, दुःख का अनुभव करता है, बदलता है और नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार वनस्पतिकाय के जीवों में भी ये सभी अवस्थाएँ होती हैं। यों तो सभी स्थावरों में मनुष्य के समान अवस्थाएँ होती हैं, लेकिन वनस्पति की अपेक्षा उनकी अवगाहना कम होने से उनका अनुभव करना कठिन होता है, इसलिए वनस्पति के साथ तुलना की गई है।

7. अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्संबोधे अविजाणए।
अस्सिं लोए पव्वहिए। (1/2/10)

अर्थ— (मूर्च्छित) मनुष्य (अशांति से) पीड़ित (होता है), (समता भाव से) दरिद्र (होता है), (उसको) (अहिंसा पर आधारित मूल्यों का) ज्ञान देना कठिन (होता है) (तथा) (वह) (अध्यात्म को) समझने वाला नहीं होता है। इस लोक में (मूर्च्छित मनुष्य) अति दु:खी (रहता) है।

विवेचन— इस सूत्र में पृथ्वीकाय आदि प्राणियों की हिंसा में आसक्त बने हुए मनुष्य की दशा का चित्रण किया गया है। हिंसा में आसक्त रहने वाला व्यक्ति अशान्ति से पीड़ित रहता है। वह ज्ञान, दर्शन आदि सद्गुणों से हीन रहता है। अज्ञानी होने के कारण उसे (अध्यात्म को) समझना कठिन होता है। अध्यात्म के अभाव में मूर्च्छाभाव के कारण वह इस लोक में अति दु:खी रहता है।

8. जाए सद्धाए णिक्खंतो तमेव अणुपालिया विजहित्ता विसोत्तियं।
(1/3/20)

अर्थ— जिस प्रबल इच्छा से (मनुष्य) (अहिंसा–पथ पर) निकला हुआ (है), उस (प्रबल इच्छा) को ही बनाए रखकर (तथा) हिंसात्मक चिन्तन को छोड़कर (वह) (चलता जाय)।

विवेचन— संयम पथ पर आगे बढ़ने वाले साधक की मनोदशा कैसी रहनी चाहिए? प्राय: देखा जाता है कि साधक का श्रद्धा भाव संयम लेते समय बहुत विशुद्ध होता है, लेकिन बाद में उसमें स्थिरता नहीं रह पाती। अत: शास्त्रकार सजग करते हुए कहते हैं कि दीक्षा लेने के बाद भी यदि साधक को अपने श्रद्धा भावों को निरन्तर विशुद्ध बनाये रखना है तो उसे हिंसात्मक चिन्तन का त्याग करके स्वाध्याय व ध्यान में मन को लगाना होगा, तब ही वह जीवन पर्यन्त उसी श्रद्धाभाव को कायम रख सकता है। साधक चार प्रकार के होते हैं :–

(1) शेर की तरह दीक्षा लेते हैं और अन्त तक शेर की तरह ही पालते हैं।

(2) शेर की तरह दीक्षा लेते हैं, परन्तु गीदड़ की तरह पालते हैं।

(3) गीदड़ की तरह दीक्षा लेते हैं, परन्तु शेर की तरह पालते हैं।

(4) गीदड़ की तरह दीक्षा लेते हैं और गीदड़ की तरह ही पालते हैं। यहाँ प्रथम श्रेणि की दीक्षा की प्रेरणा दी गई है।

9. पणया वीरा महावीहिं। (1/3/21)

अर्थ— महापथ(अहिंसा–समता पथ)पर झुके हुए वीर (होते हैं)।

विवेचन— महापथ का अभिप्राय है अहिंसा और संयम का प्रशस्त मार्ग। अहिंसा और संयम की साधना में देश, काल, सम्प्रदाय व जाति की कोई सीमा या बन्धन नहीं होता। वह सर्वथा, सर्वत्र सबके लिए एक समान है। संयम व शान्ति के आराधक सभी जन इसी पथ पर चलते हैं, चले हैं और भविष्य में चलेंगे। फिर भी यह कभी संकीर्ण नहीं होता, अत: अहिंसा और संयम का मार्ग महापथ है। वीर पुरुष अर्थात् कर्मों को विदारण करने वाले अणगार इस महापथ के प्रति सम्पूर्णतया मन, वचन, काया और भावों से समर्पित होते हैं।

10. लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं। से बेमि–णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा। जे लोगं अब्भाइक्खति से अत्ताणं अब्भाइक्खति, जे अत्ताणं अब्भाइक्खति से लोगं अब्भाइक्खति। (1/3/22)

अर्थ— (अर्हत् की) आज्ञा से प्राणी समूह को अच्छी तरह से जानकर (मनुष्य) उसको निर्भय (बना दे) अर्थात् उसको अभय दान दे।

विवेचन— मैं कहता हूँ (व्यक्ति) स्वयं प्राणी–समूह पर (उसके न होने का) झूठा आरोप कभी न लगाए, न ही निज पर (अपने न होने का) झूठा आरोप कभी लगाए। जो प्राणी–समूह पर (उसके न होने का) झूठा आरोप लगाता है, वह निज पर (अपने न होने का) झूठा आरोप लगाता है, जो निज पर (अपने न होने का) झूठा आरोप लगाता है, वह प्राणी–समूह पर (उसके न होने का) झूठा आरोप लगाता है।

यहाँ लोक का अर्थ अप्कायिक जीवों से है। जो व्यक्ति अप्कायिक जीवों की सत्ता को नकारता है वह स्वयं की सत्ता को नकारता है, क्योंकि अप्काय में और अपने में कोई अन्तर नहीं है। "एगे आया" के अनुसार सभी जीवों में चाहे वे त्रस हों या स्थावर, एक ही प्रकार की आत्मा है, अतः किसी भी जीव की हिंसा अपनी ही हिंसा है।

11. **जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे। उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सद्दाइं सुणेति। उड्ढं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु यावि। एस लोगे वियाहिते। एत्थ अगुत्ते अणाणाय पुणो पुणो गुणासाते वंकसमायारे पमत्ते गारमावसे।** (1/5/41)

अर्थ— जो दुश्चरित्रता (है), वह (अशान्ति में) चक्कर काटना (है); जो (अशान्ति में) चक्कर काटना (है), वह (ही) दुश्चरित्रता (है)। (द्रष्टाभाव से) देखता हुआ (मनुष्य) ऊपर की ओर, नीचे की ओर, तिरछी दिशा में और सामने की ओर (स्थित) रूपों को (केवल) देखता है, (द्रष्टाभाव से) सुनता हुआ (मनुष्य) शब्दों को (केवल) सुनता है। (किन्तु) मूर्च्छित होता हुआ (मनुष्य) ऊपर की ओर, नीचे की ओर तिरछी दिशा में और सामने की ओर (स्थित) रूपों में मूर्च्छित होता है और शब्दों में भी (मूर्च्छित होता है)। यह (मूर्च्छा) (ही) संसार कहा गया (है)। यहाँ पर (जो) मूर्च्छित (मनुष्य) (है), (वह) (अर्हत्–जीवन– मुक्त) की आज्ञा में नहीं (है)। (जो) बार–बार दुश्चरित्रता के स्वाद में (लीन है) (जो) कुटिल आचरण में (दक्ष है), जो प्रमादी (आसक्ति–युक्त) (है), (वह) (वास्तव में) (मूर्च्छा रूपी) घर में (ही) निवास करता है।

विवेचन— गुण शब्द के अनेक अर्थ हैं, व्याख्याकारों ने विशेष पद्धति द्वारा गुण की पन्द्रह प्रकार से व्याख्या की है। यहाँ गुण का अर्थ पाँच इन्द्रियों के ग्राह्य विषय– शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श से लिया गया है। ये विषय सभी दिशाओं में मिलते हैं। इन्द्रियों के द्वारा आत्मा इन विषयों को ग्रहण करता है। विषयों के प्रति मूर्च्छाभाव होने से आत्मा उनमें मूर्च्छित हो जाता है। यह मूर्च्छाभाव या आसक्ति ही संसार है, बन्धन है, आवर्त है। दीक्षित होकर भी जो मुनि विषयासक्त बन जाता है, बार–बार विषयों का सेवन करता है, उसका यह आचरण कपटाचरण है, क्योंकि वह ऊपर से त्यागी दिखता है। वास्तव में वह प्रमादी है, गृहवासी है और भगवान की आज्ञा से बाहर है।

पाँच इन्द्रियों के विषयों की उत्पत्ति का मुख्य साधन वनस्पति है इसलिए वनस्पतिकाय की हिंसा में, त्याग के प्रसंग में यह वर्णन किया गया है, जो प्रासंगिक है।

12. **जे अज्झत्थं जाणति से बहिया जाणति, जे बहिया जाणति से अज्झत्थं जाणति। एतं तुलमण्णेसिं।** (1/7/56)

अर्थ— जो अध्यात्म (समतामयी परम–आत्मा) को जानता है, वह बाहर की ओर (स्थित) सांसारिक विषमताओं) को समझता है; जो बाहर की ओर (स्थित) सांसारिक विषमताओं) को समझता है, वह अध्यात्म (समतामयी) (परम–आत्मा) को जानता है। (जीवन के सार को) खोज करने वाला (मनुष्य) इस (आध्यात्मिक) तराजू को (समझे)।

विवेचन— अध्यात्म का एक अर्थ है– चेतन या आत्म–स्वरूप। चेतन के स्वरूप का बोध हो जाने पर इसके प्रतिपक्ष जड़ का स्वरूप बोध स्वयं ही हो जाता है। अतः एक पक्ष को सम्यग् प्रकार से जानने वाला उसके प्रतिपक्ष को भी सम्यग् प्रकार से जान लेता है। धर्म को जानने वाला अधर्म को, पुण्य को जानने वाला पाप को जान लेता है।

अध्यात्म का एक अर्थ है– आन्तरिक जगत् अथवा जीव की मूल वृत्ति– सुख की इच्छा, जीने की भावना, शान्ति की कामना। जो अपनी इन वृत्तियों को पहचान लेता है वह बाह्य अर्थात् अन्य जीवों की इन वृत्तियों को भी जान लेता है अर्थात् स्वयं के समान ही अन्य जीव भी सुखप्रिय एवं शान्ति के इच्छुक हैं, यह जान लेना वास्तविक अध्यात्म है। इसी से आत्मतुला की धारणा सम्पुष्ट होती है।

13. **जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे।**
इति से गुणट्ठी महता, परितावेण वसे पमत्ते॥

अहो य राओ य परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठायी संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसक्कारे विणिविट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो पुणो। (2/1/63)

अर्थ— जो इन्द्रियासक्ति (है), वह (अशान्ति का) आधार (है); जो (अशान्ति का) आधार (है), वह (ही) इन्द्रियासक्ति (है)। इस प्रकार वह इन्द्रिय–विषयाभिलाषी (व्यक्ति) महान दुःख से (जीवन–यात्रा चलाता है) (तथा) (सदा) प्रमाद (मूर्च्छा) में वास करता है।

(वह) दिन में तथा रात में भी दुःखी होता हुआ (जीता है); (वह) काल–अकाल में (तुच्छ वस्तुओं की प्राप्ति के लिए) प्रयत्न करने वाला (बना रहता है); (वह) (केवल) (स्वार्थ–पूर्ण) सम्बन्ध का अभिलाषी (होता है); (वह) धन का लालची (होता है); (वह) (व्यवहार) में ठगने वाला (होता है); (वह) बिना विचार किए (कार्यों को) करने वाला (होता है); (वह) आसक्त चित्तवाला (होता है); (वह) यहाँ पर (समस्याओं के समाधान के लिए) बार–बार शस्त्रों (हिंसा) को (काम में लेता है)।

विवेचन— इस सूत्र में गुणों को मूलस्थान बताया गया है। गुण का अर्थ है इन्द्रियों के विषय और मूल का अर्थ है– चार गतिरूप संसार, आठ प्रकार के कर्म अथवा मोहनीय कर्म। अर्थात् शब्दादि इन्द्रिय विषयों में आसक्त होना ही संसार की वृद्धि का, कर्म–बन्ध का कारण है।

विषयासक्त पुरुष की मनोवृत्ति ममत्व प्रधान होती है, वह माता–पिता आदि सभी सम्बन्धियों व अपनी सम्पत्ति के साथ ममत्व का दृढ़ बन्धन बांध लेता है। ममत्व से प्रमाद बढ़ता है। ममत्व और प्रमाद ये दो भूत उसके सिर पर सवार हो जाते हैं, तब वह अपनी तीव्र इच्छाओं की पूर्ति के लिए रात–दिन प्रयत्न करता है, हर प्रकार के अनुचित उपाय अपनाता है, जोड़–तोड़ करता है। चोर, हत्यारा और दुस्साहसी बन जाता है। उसकी वृत्ति आक्रामक बन जाती है। वह बार–बार हिंसा का प्रयोग करता है। यह सब अनियन्त्रित विषयेच्छा का दुष्परिणाम है।

14. **जीविते इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवेत्ता उत्तासयित्ता अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे।** (2/1/66)

अर्थ— इस जीवन में जो (व्यक्ति) प्रमाद–युक्त (होते हैं), (वे आयु व्यतीत होने को समझ नहीं पाते हैं), (अतः) (वह) (प्रमादी व्यक्ति) (जीवों को) मारने वाला, छेदने वाला, भेदने वाला, (उनकी) हानि करने वाला (उनका) अपहरण करने वाला, (उन पर) उपद्रव करने वाला (तथा) (उनको) हैरान करने वाला (होता

है)। कभी नहीं किया गया (है) (ऐसा) (मैं) करूँगा, इस प्रकार विचारता हुआ (प्रमादी व्यक्ति हिंसा) पर उतारू हो जाता है)।

विवेचन— जो व्यक्ति इस जीवन में प्रमादी है, आसक्त है, वह हनन, छेदन, भेदन आदि दुष्प्रवृत्तियों में लगा रहता है और सोचता रहता है कि आज तक किसी ने नहीं किया वह अकृत काम मैं करूँगा।

15. एवं जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सातं अणभिक्कंतं च खलु वयं सपेहाए खणं जाणाहि पंडिते!

जाव सोतपण्णाणा अपरिहीणा जाव णेत्तपण्णाणा अपरिहीणा जाव घाणपण्णाणा अपरिहीणा जाव जीहपण्णाणा अपरिहीणा जाव फासपण्णाणा अपरिहीणा, इच्चेतेहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयट्ठं सम्मं समणुवासेज्जासि त्ति बेमि। (2/1/68)

अर्थ— हे पण्डित! इस प्रकार प्रत्येक (जीव) के सुख–दुःख को समझकर (और) (अपनी) आयु को ही सचमुच न बीती हुई देखकर, (तू) उपयुक्त अवसर को जान।

जब तक श्रवणेन्द्रिय की ज्ञान (शक्तियाँ) कम नहीं (होती हैं), जब तक चक्षु–इन्द्रिय की ज्ञान (शक्तियाँ) कम नहीं (होती हैं), जब तक घ्राणेन्द्रिय की ज्ञान (शक्तियाँ) कम नहीं (होती हैं), जब तक रसनेन्द्रिय की ज्ञान (शक्तियाँ) कम नहीं (होती हैं), जब तक स्पर्शनेन्द्रिय की ज्ञान (शक्तियाँ) कम नहीं (होती हैं), (तब तक) इस प्रकार अनेक भेद (वाली) इन अक्षीण (इन्द्रिय) ज्ञान (शक्तियों) द्वारा (तू) उचित प्रकार से आत्महित को सिद्ध कर ले। इस प्रकार (मैं) कहता हूँ।

विवेचन— प्रत्येक प्राणी के कर्म अलग–अलग हैं, परिणाम अलग–अलग हैं, इसलिए उनके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले सुख–दुःख भी अलग–अलग हैं। इस तथ्य को समझकर तथा जो अवस्था अभी तक व्यतीत नहीं हुई है अर्थात् उम्र व शक्ति अभी तक है उसे देखकर पण्डितपुरुष अवसर को जानें। क्षण का अर्थ समय अर्थात् काल की सबसे छोटी इकाई भी है। क्षण का अर्थ अवसर भी है। (1) द्रव्य क्षण– मनुष्य जन्म, (2) क्षेत्र क्षण– आर्य क्षेत्र, (3) काल क्षण– धर्माचरण का समय, (4) भाव क्षण– उपशमादि उत्तम भावों की प्राप्ति। इस उत्तम अवसर का लाभ उठाने के लिए साधक को तत्पर रहना चाहिए।

जब तक शरीर स्वस्थ एवं श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण हैं तब तक साधक आत्मार्थ अथवा मोक्षार्थ का सम्यक् अनुशीलन करता रहे।

16. अरतिं आउट्टे से मेधावी खणंसि मुक्के। (2/2/69)

अर्थ— (जो) बेचैनी को (ही) समाप्त कर देता है, वह प्रज्ञावान् (होता है); (ऐसा व्यक्ति) पल भर में बन्धन रहित (हो जाता है)।

विवेचन— इस सूत्र में "बुद्धिमान कौन होता है तथा किससे वह मुक्त होता है" का वर्णन किया गया है जो साधक अरति अर्थात् संयम में चित्त की व्याकुलता एवं उद्वेगपूर्ण स्थिति होती है, उसका जो त्याग करके आनन्द का अनुभव करता है, वह बुद्धिमान होता है। ऐसा साधक शीघ्र ही संसार के कारण रूप विषय, तृष्णा व कामना के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

17. णो हीणे, णो अतिरित्ते। (2/3/75)

अर्थ— (कोई) नीच नहीं (है), (कोई) उच्च नहीं (है)।

विवेचन— इस सूत्र में आत्मा की विविध योनियों में भ्रमणशीलता का सूचन करते हुए उस योनि, जाति व गोत्र आदि के प्रति अहंकार व हीनता के भावों से स्वयं को त्रस्त न करने की सूचना दी है। संसार में

न कोई हीन अर्थात् नीच है, न कोई अतिरिक्त अर्थात् विशेष ऊँचा है। इस विराट् विश्व में परमाणु जितना भी ऐसा कोई प्रदेश नहीं है जहाँ यह जीव जन्मा न हो, मरा न हो। जब ऐसी स्थिति है तो फिर किस स्थान का अहंकार करें, किसके लिए दीनता का अनुभव करें? कौन बड़ा और कौन छोटा? सबसे प्रति मन में समभाव की जागृति करे।

जब आत्मा अनेक बार ऊँच–नीच गोत्र का स्पर्श कर चुका हे, कर रहा है तब फिर कौन ऊँचा? कौन नीचा? ऊँच–नीच की भावना मात्र एक अहंकार है और अहंकार मद है, मद नीच गोत्र बन्धन का मुख्य कारण है। अतः गोत्रवाद व मानवाद की भावना से मुक्त होकर समत्वशील रहना चाहिए।

18. **इणमेव णावकंखंति जे जणा धुवचारिणो।**

जाती–मरणं परिण्णाय चर संकमणे दढे॥

णत्थि कालस्स णागमो।

सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला अप्पियवधा पियजीविणो जीवितुकामा। सव्वेसिं जीवितं पियं। (2/3/78)

अर्थ— जो लोग परम शान्ति के इच्छुक (हैं) (वे) इस (महत्त्व से उत्पन्न व्याकुलता) को बिल्कुल नहीं चाहते हैं।

(अतः) (तू) जन्म–मरण (अशान्ति) को जानकर दृढ़–संयम पर चल।

मृत्यु के लिए (किसी क्षण भी) न आना नहीं है।

सब (ही) प्राणी (ऐसे हैं) (जिनको) (अपने) आयु प्रिय (होती है), (जिनके लिए) (अपने) सुख अनुकूल (होते हैं), (अपने) दुःख प्रतिकूल (होते हैं), (अपना) वध अप्रिय (होता है), (अपनी) जिन्दा रहने वाली (स्थितियाँ) प्रिय होती हैं और (जो) अपने जीवन के इच्छुक (होते हैं)। सब (प्राणियों) के लिए जीवन प्रिय (होता है)।

विवेचन— जो लोग धुवचारियों अर्थात् धुवस्थान = मोक्ष की ओर चलने वाले हैं, अर्थात् मोक्ष के साधन ज्ञान–दर्शन–चारित्रादि का आचरण करने वाले हैं, वे सुख के बदले दुःख दिलाने वाले विपर्यासपूर्ण जीवन को नहीं चाहते। जन्म–मरण के चक्र को जानकर दृढ़तापूर्वक मोक्ष के पथ पर चलते हैं।

काल अर्थात् मृत्यु का आगमन नहीं है, ऐसा नहीं है अर्थात् मृत्यु का आना नियत है, कोई भी इससे बच नहीं सकता।

संसार का प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है, सबको आयुष्य प्रिय है, सब सुख चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं। सबको मृत्यु अप्रिय है, जीवन प्रिय है, अतः किसी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

19. **उद्देसो पासगस्स णत्थि।**

बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमितदुक्खे दुक्खी

दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टति त्ति बेमि। (2/3/80)

अर्थ— द्रष्टा (समतादर्शी) के लिए (कोई) उपदेश (शेष) नहीं है और अज्ञानी (विषमतादर्शी) आसक्ति–युक्त (होता है), भोगों का अनुमोदन करने वाला (होता है), अपरिमित दुःख के कारण दुःखी (होता है), (तथा) दुःखों के ही भँवर में फिरता रहता है। इस प्रकार (मैं) कहता हूँ।

विवेचन— पश्यक को उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। पश्यक अर्थात् द्रष्टा, विवेकी, ज्ञानी, जिसे कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य का विवेक होता है, उसे अन्य के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती है।

पश्यक का अर्थ सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी भी है। उसे उद्देस अर्थात् संज्ञा की अपेक्षा नहीं होती। दूसरे शब्दों में सर्वज्ञ को किसी भी प्रकार की संज्ञा (नामादि) की आवश्यकता नहीं होती। स्नेह के बन्धन में बंधने वाला, काम–सेवन में अनुरक्त अज्ञानी व्यक्ति दु:खों का शमन नहीं कर पाता। वह दु:खी होकर दु:खों के आवर्त अर्थात् चक्र में बार–बार भटकता रहता है। अत: ज्ञानी बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

20. कामा दुरतिक्कमा। जीवियं दुप्पडिबूहगं। कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयति जूरति तिप्पति पिट्टति परितप्पति। (2/5/90)

अर्थ— इच्छाएँ दुर्जय (होती हैं)। जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता (है)। यह मनुष्य इच्छाओं (की तृप्ति) का ही इच्छुक (होता है), (इच्छाओं के तृप्त न होने पर) वह शोक करता है, क्रोध करता है, रोता है (दूसरों को) सताता है (और) (उनको) नुकसान पहुँचाता है।

विवेचन— प्रस्तुत सूत्र में कामभोग की कटुता का दिग्दर्शन कराया गया है। काम के दो भेद हैं–(1) इच्छाकाम अर्थात् आशा, तृष्णा, रतिरूप इच्छाएँ। (2) मदनकाम अर्थात् वासना, विकाररूप कामेच्छा।

जब तक मनुष्य इस 'काम' के दुष्परिणाम को नहीं जान लेता, तब तक उससे विरक्ति होना कठिन है।

काम विरक्ति के 5 आलम्बन हैं, इस सूत्र में 2 का वर्णन किया गया है– (1) जीवन की क्षणभंगुरता– आयुष्य प्रतिक्षण घटता जा रहा है इसको स्थिर रखना या बढ़ा लेना किसी के वश का नहीं है। (2) कामी को होने वाले मानसिक परिताप, पीड़ा, शोक आदि को समझना।

21. जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे,
जे अणण्णारामे से अणण्णदंसी। (2/6/101)

अर्थ— जो (मनुष्य) समतामयी (आत्मा) के दर्शन करने वाला (है), वह अनुपम प्रसन्नता में (रहता है), जो (मनुष्य) अनुपम प्रसन्नता में (रहता है), वह समतामयी (आत्मा) के दर्शन करने वाला (है)।

विवेचन— जो अनन्य को देखता है वह अनन्य में रमण करता है। अनन्य का अर्थ है जो अन्य नहीं है। अन्य–पर अर्थात् जड़ को कहा जाता है जो जड़ नहीं है अर्थात् आत्मा। जो इस चैतन्य स्वभावी आत्मा को देखता है वह इस आत्मा में रमण करता है। जो आत्म–रमण करता है वह आत्मा को देखता है। आत्म–रमण और आत्म–दर्शन का यह क्रम है कि जो पहले आत्म–दर्शन करता है, वह आत्म–रमण करता है। जो आत्म–रमण करता है, वह अत्यन्त निकटता से, अति सूक्ष्मता व तन्मयता से सर्वाङ्ग आत्म–दर्शन कर लेता है।

रत्नत्रय की भाषा शैली में इस प्रकार भी कहा जा सकता है– "आत्मा को जानना–देखना सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन और आत्मा में रमण करना सम्यक् चारित्र है।"

22. सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति। (3/1/106)

अर्थ— अज्ञानी (सदा) सोए हुए अध्यात्ममार्ग को भूले हुए (हैं), ज्ञानी सदा जागते हैं (अध्यात्ममार्ग में स्थित) हैं।

विवेचन— इस सूत्र में सुप्त और जागृत अवस्था के आधार पर मुनि और अमुनि का वर्णन किया गया है।

सुप्त दो प्रकार के हैं– (1) द्रव्यसुप्त – निद्रा लेना। (2) भावसुप्त – मिथ्यात्व, अज्ञान रूप महानिद्रा से व्यामोहित।

जो आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से बिल्कुल शून्य, मिथ्यादृष्टि, असंयमी और अज्ञानी हैं, वे जागते हुए भी भाव से सुप्त हैं। जो पूर्ण रूप से जागृत हैं, उत्कृष्ट संयमी और ज्ञानी हैं, वे जागृत हैं।

जो जगत् की त्रैकालिक अवस्था पर मनन करता है या उन्हें जानता है, वह मुनि कहलाता है।

यहाँ सुप्त का अर्थ भावसुप्त है। जो मिथ्यात्व, अज्ञान आदि के कारण सदा हिंसादि में प्रवृत्त होता है, वह अमुनि है। जो संयम के प्रति जागृत रहता है, वह मुनि है।

23. अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे,
पलिछिंदियाणं णिक्कम्मदंसी। (3/2/115)

अर्थ— हे धीर! तू अग्र और मूल को छोड़ दे। राग–द्वेषादि बन्धनों को या कर्मों को सर्वथा छिन्न करके आत्मा निष्कर्मदर्शी हो जाता है।

विवेचन— अग्र का अर्थ– वेदनीयादि चार अघाति कर्म अथवा 7 कर्म या अव्रत, प्रमादादि। मूल– मोहनीयादि चार घाति कर्म अथवा मोहनीय कर्म या मिथ्यात्व। धीर साधक को कर्मों के परिणाम और मुख्य कारण दोनों पर विवेक बुद्धि से निष्पक्ष होकर चिन्तन करना चाहिए।

निष्कर्मदर्शी का अर्थ– (1) कर्म रहित शुद्ध आत्मदर्शी; (2) राग–द्वेष के सर्वथा छिन्न होने से सर्वदर्शी; (3) कर्मों के व्यापार के सर्वथा नहीं होने से अक्रिया दर्शी; (4) जहाँ कर्मों का सर्वथा अभाव है, ऐसे मोक्ष का द्रष्टा।

24. सच्चंसि धितिं कुव्वह।
एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसेति। (3/2/117)

अर्थ— सत्य में धारण करो। सत्य में रहने वाला बुद्धिमान सब पाप कर्मों को क्षीण कर देता है।

विवेचन— सत्य के अर्थ– (1) प्राणियों के लिए जो हितकर है वह सत्य है–संयम। (2) जिनेश्वर द्वारा उपदिष्ट आगम भी सत्य है। (3) वीतराग द्वारा प्ररूपित विभिन्न प्रवचन रूप आदेश भी सत्य है।

इस प्रकार संयम या आगम के आदेश रूप सत्य में स्थित रहने वाला पाप कर्मों का नाश कर देता है। अतः सत्य में रहने की प्रेरणा दी गई है।

25. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे,
से केयणं अरिहइ पूरइत्तए। (3/2/118)

अर्थ— यह मनुष्य अनेकचित्त वाला है। वह चलनी को पानी से भरना चाहता है।

विवेचन— संसार के सुखाभिलाषी पुरुष को अनेकचित्त वाला बताया है। वह अतिलोभ के वश होकर बड़ी–बड़ी असम्भव इच्छाएँ करता है। इसके लिए चलनी का दृष्टान्त देकर समझाया गया है। वह चलनी को जल से भरना चाहता है अर्थात् चलनी रूपी महातृष्णा को धनरूपी जल से भरना चाहता है। वह तृष्णा के खप्पर को भरने के लिए दूसरे प्राणियों का वध करता है, द्विपद–चतुष्पद का संग्रह करता है। इतना ही नहीं वह अपार लोभ से उन्मत्त होकर सारे जनपद का संहार करने पर उतारू हो जाता है। यह है तृष्णाकुल मनुष्य की अनेक चित्तता का नमूना।

26. पुरिसा! तुममेव तुमं मित्तं,
किं बहिया मित्तमिच्छसि? (3/3/125)

अर्थ— हे पुरुष! तू ही तेरा मित्र है, फिर बाहर अपने से भिन्न मित्र क्यों ढूँढ रहा है?

विवेचन— यहाँ पुरुष का अर्थ आत्मा है। सांख्य दर्शन में भी आत्मा के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग हुआ है। आत्मा ही आत्मा का मित्र है। अपने से भिन्न जड़ पदार्थों से मित्रता असम्भव है।

27. पुरिसा! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,
एवं दुक्खा पमोक्खसि। (3/3/126)

अर्थ— हे पुरुष! तू अपनी आत्मा का ही निग्रह कर। ऐसा करने से दु:ख से छूट जाएगा।

विवेचन— यहाँ आत्मा के निग्रह का अर्थ है– कषाय आत्मा को वश में करना अर्थात् राग–द्वेष या क्रोधादि विभावों में रहने वाली आत्मा को सम्यग्ज्ञान, दर्शन व चारित्र के द्वारा वश में करने से शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक सभी दु:खों से मुक्ति मिल जाएगी।

28. पुरिसा! सच्चमेव समभिजाणाहि।
सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेधावी मारं तरति। (3/3/127)

अर्थ— हे मनुष्य! (तू) सत्य का ही निर्णय कर। (जो) सत्य की आज्ञा में उपस्थित (है), वह मेधावी मृत्यु को जीत लेता है।

विवेचन— इस सूत्र में परम सत्य को ग्रहण करने और तदनुसार प्रवृत्ति करने की प्रेरणा दी गई है। साथ ही सत्ययुक्त साधक की उपलब्धियों एवं असत्ययुक्त मनुष्यों की अनुपलब्धियों की भी संक्षिप्त झाँकी दिखाई गई है। साधक किसी भी मूल्य पर सत्य को न छोड़े, सत्य की ही आसेवना करे, प्रतिज्ञापूर्वक आचरण करे, सभी प्रवृत्तियों में सत्य को ही आगे रखकर चले। सत्य अर्थात् स्वीकृत संकल्प एवं सिद्धान्त का पालन करें।

29. जे एगं जाणति से सव्वं जाणति,
जे सव्वं जाणति से एगं जाणति। (3/4/129)

अर्थ— जो एक को जानता है, वह सबको जानता है। जो सबको जानता है वह एक को जानता है।

विवेचन— जो विशिष्ट ज्ञानी एक परमाणु आदि द्रव्य तथा उसके किसी एक भूत–भविष्यत् पर्याय अथवा स्व या पर पर्याय को पूर्ण रूप से जानता है, वह समस्त द्रव्यों एवं स्व–पर पर्यायों को जान लेता है। क्योंकि समस्त वस्तुओं के ज्ञान के बिना अतीत–अनागत पर्यायों सहित एक द्रव्य का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता।

वस्तु के अनन्तभूतकालीन, अनन्त भविष्यत्कालीन और अनन्त वर्तमान कालीन स्वपर्यायों और अनन्तानन्त पर पर्यायों को जान लेने पर ही एक वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान हो सकता है, इसके लिए अनन्त ज्ञान की आवश्यकता है। अनन्त ज्ञान होने पर ही एक वस्तु पूर्ण रूप से जानी जाती है और जिसमें अनन्त ज्ञान होगा वह संसार की सभी वस्तुओं को जान लेता है। इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि जो एक वस्तु को पूर्ण रूप से जानता है वह सभी वस्तुओं को पूर्ण रूप से जानता है और जो सभी वस्तुओं को पूर्ण रूप से जानता है, वही एक वस्तु को पूर्ण रूप से जानता है।

30. जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी,
जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी,
जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी,
जो मोहदंसी..... से दुक्खदंसी। (3/4/130)

अर्थ— जो क्रोध को देखता है वह मान को देखता है। मान को देखने वाला माया को और क्रमशः लोभ, राग, द्वेष, आसक्ति एवं दुःख को देखता है, अतः कषायों से बचना चाहिए।

विवेचन— दुःख का मूल कारण कषाय है। जो व्यक्ति इन क्रोधादि कषायों के स्वरूप को ज्ञ परिज्ञा से जानकर, प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग कर देता है, वह दुःख से छूट जाता है। दर्शी का अर्थ जानकर छोड़ने वाला होता है।

इस सूत्र में स्थूल से सूक्ष्म की ओर विवेचन किया गया है क्रोध स्थूल रूप है। मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, आसक्ति एवं दुःख उससे सूक्ष्म–सूक्ष्म हैं।

31. सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेतव्वा, ण परिघेत्तव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे णितिए सासए समेच्च लोयं खेतण्णेहिं पवेदिते।
(4/2/138)

अर्थ एवं विवेचन— भगवान महावीर कहते हैं– जो भूतकाल में हुए, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे वे सभी अरिहन्त भगवन्त ऐसा ही कहते हैं कि सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को नहीं मारना चाहिए। इस सूत्र में अहिंसा की त्रैकालिक एवं सार्वभौमिक मान्यता का प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा धर्म शाश्वत धर्म है इसका प्रतिपादन केवल भगवान महावीर ने ही नहीं, अपितु सभी तीर्थंकरों एवं सर्वज्ञों ने किया है। यहाँ अहिंसा का अर्थ–हिंसा नहीं करना अथवा नहीं मारना, इस अर्थ के साथ राग–द्वेषादि भाव हिंसा नहीं करना भी है। वीतरागता प्रधान भाव अहिंसा अर्थ अधिक संगत है।

हंतव्वा— चाबुक आदि से मारना।
अज्जावेतव्वा— जबरन आदेश का पालन कराना।
परिघेतव्वा— गुलाम बनाकर अपने कब्जे में रखना।
परितावेयव्वा— परिताप देना, सताना, हैरान करना।
उद्दवेयव्वा— प्राणों से रहित करना, मार डालना।

32. णो लोगस्सेसणं चरे। (4/1/133)

अर्थ— लोकैषणा में न भटके।

विवेचन— इष्ट विषयों के संयोग और अनिष्ट के वियोग की लालसा का नाम लोकैषणा है। यह प्रवृत्ति प्राय सभी प्राणियों में रहती है, इसलिए साधक को लोकैषणा से बचने का उपदेश दिया गया है।

33. णाऽणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि। (4/2/134)

अर्थ—जीवों का मृत्यु–मुख में जाना नहीं होगा, ऐसा सम्भव नहीं है।

विवेचन— जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः – जिसने जन्म लिया है, उसकी मृत्यु निश्चित है, उसे मृत्यु के मुख से कोई बचा नहीं सकता। फिर भी अज्ञानी जन जीवनपर्यन्त कर्म–संचय तथा धन–संचय में रचे–पचे रहते हैं। अथवा बारम्बार जन्म ग्रहण करते रहते हैं, उन्हें मृत्यु दबोचे बिना नहीं रहती।

34. णेव से अंतो णेव से दूरे। (5/1/148)

अर्थ— कामनाओं का निवारण करने वाला पुरुष न तो मृत्यु की सीमा में रहता है और न मोक्ष से दूर रहता है।

विवेचन— इसके तीन अर्थ किए गए हैं– पहला अर्थ– कामनाओं को जीतने वाला अनासक्त मनुष्य अहित के समीप भी नहीं होता है तथा अनासक्ति के कारण शान्ति/समता से दूर भी नहीं रहता है।

दूसरा अर्थ– केवलज्ञानी पुरुष चार घाति कर्मों का क्षय हो जाने से न तो संसार के भीतर हैं और भवोपग्राही चार अघाति कर्मों के शेष रहने के कारण न वे संसार से दूर हैं।

तीसरा अर्थ– जो श्रमण वेश लेकर विषय–सामग्री को छोड़ देता है, किन्तु अन्तःकरण से कामना का त्याग नहीं करता, वह अन्तरंग रूप से साधना की सीमा में नहीं है और बाह्य रूप से साधना से दूर भी नहीं हैं, क्योंकि साधक के वेश में है।

35. उट्ठिते णो पमादए। (5/2/152)

अर्थ— साधक मोक्ष की साधना के लिए उत्थित होकर प्रमाद न करे।

विवेचन— इस सूत्र में तीर्थंकरों ने अप्रमाद का मार्ग बताकर संयम–साधना में तत्पर साधक को प्रमाद से बचने का उपदेश दिया है। प्रमाद का अर्थ है– आत्म विस्मरण। इसके पाँच भेद हैं– मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा।

36. से सुतं च मे अज्झत्थं च मे-
बंधपमोक्खो तुज्झऽज्झत्थेव। (5/2/155)

अर्थ— मैंने सुना है, मेरी आत्मा में यह स्थिर हो गया है कि बन्ध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा में ही स्थित है।

विवेचन— व्यवहार दृष्टि से कहा जाता है कि आत्मा ज्ञानावरणादि कर्मों से बंधी हुई है, उन कर्मों के नाश होने पर मुक्त हो जाती है। वास्तव में देखा जाय तो जड़ कर्म अरूपी आत्मा के बंध नहीं सकते और बन्ध नहीं सकते तो उनकी मुक्ति की बात ही नहीं है। यह व्यवहार से कहा जाता है।

इस सूत्र में आध्यात्मिक या पारमार्थिक अथवा निश्चय दृष्टि से बन्ध और मोक्ष का स्वरूप कहा गया है। बंध और मोक्ष आत्मा में ही है, बाहर से नहीं होता। जब आत्मा रागादि विभाव भावों में रहता है, वही बन्ध है और वीतराग भाव में रमण करता है, वही मोक्ष है। इसलिए कहा गया है कि बन्ध और मोक्ष आत्मा में ही है।

37. समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिते। (5/3/157)

विवेचन— वृत्तिकार ने इसके चार अर्थ प्रस्तुत किए हैं– (1) आर्यों– तीर्थंकरों ने समता में धर्म बताया है। (2) भगवान ने देशार्य, भाषार्य, चारित्रार्य आदि आर्यों में समता से अर्थात् निष्पक्षतापूर्वक धर्म का कथन किया है। (3) समस्त हेय बातों से दूर आर्यों ने कषायादि की उपशान्ति में प्रकर्ष रूप से या आदि में धर्म कहा है। (4) तीर्थंकरों ने उन्हीं को धर्म–प्रवचन कहा है, जिनकी इन्द्रियाँ और मन उपशान्त थे। इन चारों में से प्रसिद्ध अर्थ पहला है, परन्तु सन्दर्भ अनुसार दूसरा अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है।

38. इमेण चेव जुज्झाहि, किं ते जुज्जेण बज्झतो?
जुद्धारिहं खलु दुल्लभं। (5/3/159)

अर्थ— इसी के (अपनी आत्मा) साथ युद्ध कर, दूसरों के साथ युद्ध करने में तुझे क्या मिलेगा? युद्ध के योग्य साधन अवश्य ही दुर्लभ हैं।

विवेचन— इस सूत्र में बाहरी शत्रुओं के साथ युद्ध करने का निषेध करते हुए आन्तरिक शत्रुओं से युद्ध करने का कथन किया गया है। युद्ध औदारिक शरीर व कर्मों के साथ लड़ना है। यह औदारिक शरीर जो इन्द्रिय और मन के शस्त्र लिये हुए है, विषय सुखपिपासु है और स्वेच्छाचारी बनकर तुम्हें नचा रहा है इसके साथ युद्ध करो। उस कार्मण शरीर के साथ लड़ो, जो वृत्तियों के माध्यम से तुम्हें अपना दास बना रहा है, काम, क्रोध, मत्सर, लोभ आदि सब कर्मशत्रु की सेना है, इसलिए तुम्हें कर्मशरीर और स्थूल शरीर के साथ आन्तरिक युद्ध करके कर्मों को क्षीण कर देना है।

इस भाव युद्ध के योग्य साधन जो दुर्लभ हैं वे हैं– परिज्ञा और विवेक। परिज्ञा से वस्तु का सर्वतोमुखी ज्ञान प्राप्त करना है और विवेक से उसके पृथक्करण की दृढ़ भावना करनी है। विवेक के परिग्रह विवेक, कर्म विवेक और भाव विवेक ऐसे भेद किये गये हैं। धन्य–धान्य, परिवार, शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से भिन्नता का चिन्तन परिग्रह विवेक, कर्म से आत्मा के पृथक्करण की दृढ़ भावना करना कर्म विवेक और ममत्व आदि विभावों से आत्मा को पृथक् समझना भाव विवेक है।

39. **जे आता से विण्णाता, जे विण्णाता से आता।**
जेण विजाणति से आता, तं पडुच्च पडिसंखाए।
एस आतावादी समियाए परियाए वियाहिते त्ति बेमि।(5/5/171)

अर्थ— जो आत्मा है, वह विज्ञाता है और जो विज्ञाता है, वह आत्मा है। क्योंकि मति आदि ज्ञानों से आत्मा स्व–पर को जानता है, इसलिए वह आत्मा है। उस ज्ञान की विभिन्न परिणतियों की अपेक्षा से आत्मा की पहचान होती है।

यह आत्मवादी सत्यता या सम्यक्ता का पारगामी या दीक्षा पर्याय वाला कहा गया है।

विवेचन— इस सूत्र में शास्त्रकार ने आत्मा का लक्षण द्रव्य और गुण दोनों अपेक्षाओं से बता दिया है। चेतन ज्ञाता द्रव्य है और चैतन्य अर्थात् ज्ञान उसका गुण है। यहाँ ज्ञान से आत्मा की अभिन्नता तथा ज्ञान आत्मा का गुण है, इसलिए आत्मा से ज्ञान की भिन्नता दोनों बतला दी है। द्रव्य और गुण न सर्वथा भिन्न होते हैं, न सर्वथा अभिन्न। इस दृष्टि से आत्मा और ज्ञान, दोनों न सर्वथा अभिन्न है, न भिन्न। गुण द्रव्य में ही रहता है और द्रव्य का ही अंश है, इस कारण दोनों अभिन्न भी हैं तथा द्रव्य और गुण की दृष्टि से दोनों भिन्न भी हैं।

सार यह है कि जो ज्ञाता है वह आत्मा ही है और जो आत्मा है वह ज्ञाता है। तेरा ज्ञान तुझसे भिन्न नहीं है।

41. **आणाए मामगं धम्मं।** (6/2/185)

अर्थ— धर्म मेरी आज्ञा में है।

विवेचन— वृत्तिकार ने इस वाक्य के दो अर्थ किए हैं– (1) जिससे सर्वतोमुखी ज्ञापन किया जाय– बताया जाय, उसे आज्ञा कहते हैं। आज्ञा से (शास्त्रोक्त आदेशानुसार) मेरे धर्म का सम्यक् अनुपालन करें। (2) धर्माचरणनिष्ठ साधक कहता है– एक मात्र धर्म ही मेरा है, अन्य सब पराया है, इसलिए मैं आज्ञा से (तीर्थंकर उपदेश से) उसका सम्यक् पालन करूँगा।

41. **गामे अदुवा रण्णे, णेव गामे णेव रण्णे,**
धम्ममायाणह पवेदितं माहणेण मतिमया। (8/8/235)

अर्थ— धर्म गाँव में होता है या अरण्य में? न तो गाँव में होता है न अरण्य में। उसी रत्नत्रयादि को धर्म जानो, जो सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान ने बताया है।

विवेचन— इस सूत्र में धर्म के विषय में विवाद और मूढ़ता से विमुक्ति की चर्चा की गई है। उस युग में कुछ लोग एकान्ततः ऐसा मानते थे कि गाँव, नगर आदि जनसमूह में रहकर ही साधु–धर्म की साधना हो सकती है। अरण्य में रहकर साधु को परीषह सहने का अवसर ही कम आएगा, आएगा तो वह विचलित हो जाएगा। एकान्त में ही तो पाप पनपता है। इसके विपरीत कुछ साधक कहते थे कि अरण्यवास में ही साधु–धर्म की सम्यक् साधना की जा सकती है, अरण्य में वनवासी बनकर कंद–मूल–फलादि खाकर ही तपस्या की जा सकती है, बस्ती में रहने से मोह पैदा होता है, इन दोनों एकान्तवादों का प्रतिकार करते हुए शास्त्रकार कहते हैं– धर्म न तो गाँव में रहने से होता है, न अरण्य में आरण्यक बनकर रहने से। धर्म का आधार ग्राम–अरण्यादि नहीं है, उसका आधार आत्मा है। आत्मा के गुण सम्यग्ज्ञान–दर्शन–चारित्र में धर्म है। जिससे जीव, अजीव आदि का परिज्ञान हो, तत्त्वभूत पदार्थों पर श्रद्धा हो और यथोक्त मोक्षमार्ग का आचरण हो, वही धर्म है।

42. अप्पं तिरियं पेहाए, अप्पं पिट्ठओ उप्पेहाए।
अप्पं बूइए पडिभाणी, पथपेही चरे जतमाणे॥ (9/1/274)

अर्थ— भगवान चलते हुए न तिरछे देखते थे और न पीछे देखते थे। वे मौन चलते थे, किसी के पूछने पर बोलते नहीं थे। वे यतना–पूर्वक मार्ग को देखते हुए चलते थे।

विवेचन— इस सूत्र में भगवान महावीर की चर्या का वर्णन किया गया है। चलते समय भगवान का ध्यान अपने सामने के पथ पर रहता था, इसलिए न तो पीछे देखते थे, न दाएँ–बाएँ और न ही रास्ते चलते बोलते थे।

यहाँ 'अप्पं' शब्द अल्पार्थक नहीं होकर निषेधार्थक है।

43. सयमेव अभिसमागम्म, आयतजोगमायसोहीए।
अभिणिव्वुडे अमाइल्ले, आवकहं भगवं समितासी॥(9/4/322)

अर्थ— आत्म–शुद्धि के द्वारा भगवान ने स्वयमेव आयतयोग (मन–वचन–काया की संयत प्रवृत्ति) को प्राप्त कर लिया। उनके कषाय उपशान्त हो गए। उन्होंने जीवनपर्यन्त माया से रहित तथा समिति गुप्ति से युक्त होकर साधना की।

विवेचन— आयत योग का अर्थ है– मन–वचन–काय की संयत योग क्रिया। इसे तन्मयतायोग कहना अधिक उपयुक्त लगता है। भगवान जिस किसी भी क्रिया को करते, उसमें तन्मय हो जाते थे। यह योग अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना से बचकर केवल वर्तमान में रहने की क्रिया में पूर्णतया तन्मय होने की प्रक्रिया है। वे चलते समय केवल चलते थे, न तो इधर–उधर झाँकते थे, न बातें या स्वाध्याय करते और न ही चिन्तन करते थे। वर्तमान क्रिया के प्रति वे सर्वात्मना समर्पित थे।

जीव और शरीर की भिन्नता सम्बन्धी
राजप्रश्नीय सूत्र के प्रश्नोत्तर

एक समय श्वेताम्बिका नामक नगरी का अधिपति राजा प्रदेशी था। वह अत्यन्त अधार्मिक, प्रचण्डक्रोधी और महान् तार्किक था। गुरुजनों का सम्मान करना उसने सीखा ही नहीं और न ही वह श्रमणों तथा ब्राह्मणों पर निष्ठा रखता था। उसकी पत्नी का नाम 'सूर्यकान्ता' था। पुत्र का नाम 'सूर्यकान्त' था जो राज्य, राष्ट्र, बल, वाहन, कोष, कोष्ठागार और अन्तःपुर की निगरानी रखता था।

राजा प्रदेशी के चित्त नामक एक सारथी था, वह साम, दाम, दण्ड, भेद आदि नीतियों में बहुत ही कुशल था। प्रबल प्रतिभा का धनी होने के कारण समय–समय पर राजा प्रदेशी भी उससे परामर्श किया करता था।

श्रावस्ती नगरी का अधिपति जितशत्रु था। वह राजा प्रदेशी का आज्ञाकारी सामन्त था। एक समय राजा प्रदेशी के आदेश को स्वीकार कर चित्त सारथी उपहार लेकर श्रावस्ती पहुँचता है और वहाँ रहकर शासन की देखभाल भी करता है।

उसी समय भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा के चौदहपूर्वधारी केशीकुमार श्रमण श्रावस्ती नगरी में पधारे। उनके आगमन से नगर के लोग अपूर्व उत्साह से धर्मदेशना श्रवण करने वहाँ उपस्थित हुए। चित्त सारथी भी चरणों में उपस्थित हुआ। प्रवचन श्रवण कर वह इतना भाव विभोर हो गया कि उसने श्रावक के बारह व्रत धारण कर लिये। लौटते समय चित्त सारथी ने केशीकुमार श्रमण से श्वेताम्बिका नगरी में पधारने की पुरजोर विनति की। केशी श्रमण ने कहा– वहाँ का राजा प्रदेशी अधार्मिक है, इसलिये मैं वहाँ कैसे आ सकता हूँ?

चित्त सारथी ने निवेदन किया कि सम्भव है आपके ओज–तेज पूर्ण प्रवचन से राजा प्रदेशी का भी कायाकल्प हो जाए। अन्ततः दीर्घद्रष्टा केशीकुमार श्रमण ने शासन हित देखकर श्वेताम्बिका पधारने का विचार किया। नगरी में पधारे। चित्त सारथी ने उनके दर्शन–वन्दन कर परम प्रसन्नता अनुभव की तथा ठहरने की समुचित व्यवस्था की। नये घोड़ों की परीक्षा के बहाने से वह राजा प्रदेशी को उसी उद्यान में ले आया जहाँ केशीकुमार श्रमण विराजमान थे। चित्त सारथी ने राजा को बताया कि ये चार ज्ञान के धारक श्रमण श्रेष्ठ हैं, आत्मवादी हैं। तब राजा प्रदेशी ने उनके तप–संयम के तेज से प्रभावित होकर उनके चरणों में उपस्थित हो 'अपनी आत्मा और शरीर अलग–अलग सम्भव कैसे?' इस शंका का समुचित समाधान प्राप्त करने हेतु अनेक प्रश्न–प्रतिप्रश्न किये, जो राजप्रश्नीय सूत्र के आधार पर यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

जिज्ञासा 1. हे भगवन्! क्या आपकी यह दृढ़ धारणा और स्वीकृत सिद्धान्त है कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, शरीर और जीव दोनों एक नहीं है?

समाधान : हे प्रदेशी! हम श्रमण–निर्ग्रन्थों की यह दृढ़ धारणा और स्वीकृत सिद्धान्त है कि जीव भिन्न है, शरीर भिन्न है अर्थात् जीव और शरीर दोनों अलग–अलग हैं। जीव और शरीर को एक मानने की हमारी धारणा नहीं है।

जिज्ञासा 2. हे भदन्त! मेरी मान्यता जीव और शरीर को अलग–अलग मानने की नहीं है। मेरी मान्यता के अनुसार तो जीव और शरीर एक ही है। इसका कारण यह है कि मेरे पितामह अधार्मिक थे। राज–कर लेकर भी अपनी प्रजा का भली– भाँति पालन–रक्षण नहीं करते थे। आपके कथनानुसार तो वे अत्यन्त कलुषित पापकर्मों को उपार्जित करके, मरण करके, नारकी में उत्पन्न हुए होंगे। मैं उनका प्रिय, मनोज्ञ पौत्र हूँ। वे मुझे नरक से आकर कहें कि हे पौत्र! मैंने इसी श्वेताम्बिका नगरी में अधार्मिक यावत् प्रजाजनों से राज–कर लेकर भी उनका यथोचित

पालन–रक्षण नहीं किया, इस कारण मैं बहुत कलुषित पापकर्मों का संचय करके नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। हे पौत्र! तुम अधार्मिक मत होना। प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन, रक्षण में प्रमाद मत करना और बहुत से पापकर्मों का संचय भी मत करना। ऐसा कहने पर तो मैं आपके कथन को सही मान सकता हूँ कि जीव और शरीर अलग–अलग है, अन्यथा नहीं।

समाधान : प्रदेशी राजा की युक्ति को सुनकर केशीकुमार श्रमण बोले– हे भदन्त! यदि तुम किसी पुरुष को तुम्हारी रानी सूर्यकान्ता के साथ मानवीय कामभोगों को भोगते हुए देख लो तो उस पुरुष के लिए क्या दण्ड निश्चित करोगे?

प्रदेशी ने कहा– हे भगवन्! मैं उस पुरुष के हाथ काट दूँगा, उसे शूली पर चढ़ा दूँगा, काँटों से छेद दूँगा, पैर काट दूँगा अथवा एक ही बार में जीवनरहित कर दूँगा, मार डालूँगा। केशी श्रमण ने पूछा– हे प्रदेशी! यदि वह पुरुष तुमसे कहे कि हे स्वामिन्! आप घड़ी भर (थोड़ी देर) रुक जाओ, मैं अपने पुत्र, मित्र, स्त्री आदि परिजनों को कह आऊँ कि आप इस प्रकार का पापाचरण मत करना अन्यथा मेरे समान आपको भी घोर दण्ड भुगतना पड़ेगा, तो हे प्रदेशी! क्या तुम क्षणमात्र के लिये भी उस पुरुष की यह बात मानोगे?

प्रदेशी ने कहा– नहीं, मैं उसकी यह बात नहीं मानूँगा। केशी श्रमण ने कहा– जैसे वह पुरुष अपराधी है, इस कारण तुम उसकी बात नहीं मानते, ठीक उसी प्रकार तुम्हारे पितामह भी मनुष्यलोक में आकर तुम्हें समझाना चाहते हैं, किन्तु चाहते हुए भी नहीं आ सकते।

प्रदेशी ने कहा– भगवन्! नरक से मनुष्य लोक में नहीं आने के क्या कारण हैं?

केशी श्रमण ने कहा– चार कारणों से नरक में उत्पन्न नारकी जीव इच्छा होते हुए भी मनुष्य लोक में नहीं आ सकते–

1. नरक गति में अत्यन्त तीव्र वेदना का वेदन करने से।
2. परमाधार्मिक नरकपालों द्वारा बार–बार ताड़ित–प्रताड़ित किये जाने से।
3. नरक गति सम्बन्धी असाता वेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से।
4. नरक गति सम्बन्धी आयुकर्म के क्षय नहीं होने से।

अतएव हे प्रदेशी! तुम इस बात पर विश्वास करो, श्रद्धा रखो कि जीव अन्य है तथा शरीर अन्य है।

जिज्ञासा 3. हे भदन्त! मेरी दादी इसी श्वेताम्बिका नगरी में धर्मपरायण श्राविका थीं। धार्मिक आचार–विचारपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने वाली थीं। आपके कथनानुसार वह काल करके किसी देवलोक में उत्पन्न हुई है। मैं उस दादी का भी प्रिय एवं कान्त पौत्र हूँ। उसने आकर मुझे यह क्यों नहीं बतलाया कि हे पौत्र! तुम भी धार्मिक आचार–विचार पूर्वक अपना जीवन बिताओ, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का अर्जन करके देवलोक में उत्पन्न होकर पुण्य का फल प्राप्त कर सको?

समाधान : प्रदेशी राजा के उक्त तर्क के प्रत्युत्तर में केशी श्रमण ने कहा– हे प्रदेशी! यदि तुम स्नानादि करके, धूपदान हाथ में लेकर देवकुल में प्रवेश कर रहे हों, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़े होकर यह कहे कि हे स्वामिन्! आओ क्षणमात्र के लिए यहाँ बैठो, खड़े होओ और लेटो तो क्या हे प्रदेशी! एक क्षण के लिये भी तुम उस पुरुष की बात स्वीकार कर लोगे? प्रदेशी ने कहा– नहीं, मैं उस पुरुष की बात नहीं मानूँगा।

केशी श्रमण ने कहा– क्यों नहीं मानोगे?

प्रदेशी ने कहा– भदन्त! वह स्थान अपवित्र है और अपवित्र वस्तुओं से भरा हुआ है।

केशी श्रमण ने कहा– हे प्रदेशी! जिस प्रकार तुम देवकुल में प्रवेश करते समय क्षणमात्र के लिये भी अपवित्र स्थान में नहीं जाना चाहते वैसे ही तुम्हारी दादी धर्म परायणा होने से देवलोक में उत्पन्न हुई है, किन्तु देवलोक की अपेक्षा मनुष्यलोक अपवित्र होने के कारण आने की इच्छा होते हुए भी नहीं आ पाती।

जिज्ञासा 4. देवलोक में उत्पन्न हुए देव, मनुष्यलोक में आने के आकांक्षी होते हुए भी क्यों नहीं आ पाते?

समाधान : देवलोक में उत्पन्न हुए देव, मनुष्य लोक में आने के आकांक्षी होते हुए भी निम्न चार कारणों से नहीं आ पाते–

1. देवलोक के दिव्य कामभोगों में मूर्च्छित, गृद्ध अथवा आसक्त हो जाने से।
2. देवलोक के दिव्य कामभोगों में मूर्च्छित होने के कारण मनुष्य सम्बन्धी राग (आकर्षण) समाप्त हो जाने से।
3. देवलोक के दिव्य कामभोगों में मूर्च्छित यावत् तल्लीन होने के कारण अब जाऊँ, अब जाऊँ, कुछ समय बाद जाऊँगा, किन्तु उतने समय में तो उनके मनुष्य लोक सम्बन्धी सभी परिजन कालधर्म को प्राप्त हो जाने से।
4. मनुष्य लोक सम्बन्धी दुर्गन्ध, अतिशय तीव्र प्रतिकूल और अनिष्टकर लगने से।

अतः हे प्रदेशी! तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है, जीव शरीर नहीं है और न शरीर जीव है।

जिज्ञासा 5. हे भगवन्! मैंने एक चोर को जीवित ही एक लोहे की कुंभी में बन्द करवा कर अच्छी तरह से लोहे के ढक्कन से उसका मुख ढँक दिया। फिर गरम लोहे एवं रांगे से उस पर लेप करा दिया और देखरेख के लिये अपने विश्वास पात्र पुरुषों को नियुक्त कर दिया।

बाद में किसी दिन मैं उस लोहे की कुंभी के पास गया। वहाँ जाकर मैंने उस लोहे की कुंभी को खुलवाया। खुलवाकर मैंने स्वयं उस पुरुष को देखा तो वह मर चुका था। किन्तु उस लोह–कुंभी में राई जितना भी न तो छिद्र था, न अन्तर था, न दरार थी कि जिसमें से उस चोर का जीव बाहर निकल जाता। यदि उस लोहकुंभी में छिद्र यावत् दरार होती तो मैं यह मान लेता कि भीतर बन्द पुरुष का जीव बाहर निकल गया है, तब उससे आपकी बात पर विश्वास कर लेता, निर्णय कर लेता कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है। लेकिन उस लोहकुंभी में जब कोई छिद्र यावत् दरार ही नहीं है तो हे भदन्त! मेरा यह मानना ठीक ही है कि जीव और शरीर भिन्न–भिन्न नहीं है। जो जीव है वही शरीर है और जो शरीर है वही जीव है।

समाधान : केशीकुमार श्रमण ने राजा प्रदेशी द्वारा दी गई युक्ति का समाधान देते हुए कहा– हे प्रदेशी! जैसे कोई एक कूटाकारशाला (पर्वत के शिखर जैसी आकृति वाला भवन) हो, वह भीतर–बाहर चारों ओर से लीपी हुई हो, अच्छी तरह से बन्द की हुई हो, जिसमें हवा भी प्रवेश न कर सके, ऐसी हो। अब यदि उस कूटाकारशाला में कोई पुरुष भेरी बजाने के लिये डण्डा लेकर घुस जाये, उस कूटाकारशाला के द्वारों को सब तरफ से बन्द करके, उसके बाद कूटाकारशाला के बीचों–बीच खड़े होकर डण्डे से भेरी को जोर–जोर से बजाये तो हे प्रदेशी! क्या वह भीतर की आवाज बाहर निकलती है अथवा नहीं?

प्रदेशी– हाँ भगवन्! निकलती है।

केशीश्रमण– हे प्रदेशी! उस कूटाकारशाला में कोई छिद्र यावत् दरार नहीं होने पर भी जैसे भेरी की आवाज बाहर निकलती है, उसी प्रकार तुम यह श्रद्धा करो कि जीव भी उस लोहकुंभी में से बाहर निकल जाता है। (शब्द तो रूपी, अष्टस्पर्शी होते हैं जब वे भी पृथ्वी का, शिला का, पर्वत का भेदन कर बाहर निकल जाते हैं तो आत्मा तो शब्द से अनन्तानन्त गुणी सूक्ष्म है, अरूपी है, इस कारण से बन्द लोहकुंभी में से निकल जाय, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।)

अतः हे प्रदेशी! तुम यह श्रद्धा करो, प्रतीति करो कि जीव और शरीर एक न होकर अलग–अलग ही है।

जिज्ञासा 6. हे भदन्त! किसी समय मेरे नगर रक्षकों ने साक्षी सहित एक चोर को उपस्थित किया। मैंने उस चोर को प्राणरहित करके एक लोहकुंभी में डलवा दिया, ढक्कन से ढँक दिया यावत् अपने विश्वासपात्र पुरुषों को रक्षा के लिये नियुक्त कर दिया। इसके बाद किसी दिन उस लोहकुंभी को खोला तो उसे कृमिकुल (बेइन्द्रियादि जीवों) से व्याप्त देखा। उस लोहकुंभी में न तो कोई छेद था, न कोई दरार थी, जिसमें से वे जीव बाहर से उसमें प्रविष्ट हो सके। छेद, दरार नहीं होने पर भी लोहकुंभी में कृमि (जीव) पाया जाना इस बात को सिद्ध करता है कि जीव और शरीर एक ही है।

समाधान : हे प्रदेशी! क्या तुमने पहले कभी अग्नि से तपाया हुआ लोहा देखा है? हाँ भदन्त! देखा है। हे प्रदेशी! तपाये जाने पर वह लोहा पूर्णतया अग्नि के रूप में परिणत होता है? हाँ भदन्त! हो जाता है।

हे प्रदेशी! उस लोहे में कोई छिद्र, दरार आदि होते हैं जिनमें वह अग्नि बाहर से उसके भीतर प्रविष्ट हो गई हो? हे भदन्त! उस लोहे में कोई छिद्र आदि नहीं होते। हे प्रदेशी! जीव अरूपी होने के साथ अप्रतिहत गतिवाला है। अर्थात् जिसकी गति को कोई रोक न सके। जिससे वह पृथ्वी, शिला आदि का भेदन करके बाहर से भीतर प्रविष्ट हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि लोहे में प्रविष्ट हो जाती है। इसलिये हे प्रदेशी! तुम इस बात की श्रद्धा–प्रतीति करो कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है।

केशीश्रमण के कथन का निष्कर्ष यह है कि लोहकुंभी में व्याप्त कृमि आदि जीव दूसरी गति से आकर इस मृतक शरीर में उत्पन्न हुए हैं।

जिज्ञासा 7. हे भदन्त! क्या कोई तरुण, चतुर, कुशल एवं बलशाली पुरुष एक साथ पाँच बाणों को चलाने में समर्थ हो सकता है? केशीश्रमण ने कहा– हाँ, वह समर्थ हो सकता है। प्रदेशी ने कहा– लेकिन वही पुरुष यदि अल्पबलशाली, अल्पकुशल है तो वह पाँच बाणों को एक साथ चलाने में समर्थ नहीं हो पाता। यदि अल्पबलशाली (मंदविज्ञानी) भी पाँच बाणों को एक साथ चलाने में समर्थ होता तो मैं यह श्रद्धा कर सकता था कि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न है। किन्तु अल्पबलशाली पुरुष पाँच बाणों को एक साथ चलाने में समर्थ नहीं होने के कारण मेरी यह धारणा सही है कि जो शरीर है वही जीव है।

समाधान : राजा प्रदेशी के उक्त तर्क का केशीश्रमण ने प्रत्युत्तर देते हुए कहा– हे प्रदेशी! जिस प्रकार तरुण यावत् कार्य करने में निपुण पुरुष नया धनुष, नई डोरी और नवीन बाण हो तो एक साथ पाँच बाण चला सकता है। किन्तु बाल यावत् मन्दविज्ञानी पुरुष पुराने धनुष, डोरी, बाण आदि होने

पर एक साथ पाँच बाण नहीं चला सकता। साधनों (उपकरणों) की अपर्याप्तता इसमें प्रमुख कारण है। अतः तुम यह श्रद्धा करो कि जीव और शरीर दोनों अलग–अलग हैं।

जिज्ञासा 8. राजा प्रदेशी ने कहा– हे भदन्त! ये तो प्रज्ञाजन्य उपमा है, वास्तविक नहीं है। निम्न हेतु से तो यही सिद्ध होता है कि जीव और शरीर में भेद नहीं है। जैसे कोई तरुण यावत् शक्तिशाली पुरुष वजनदार लोहे के भार को उठाने में समर्थ होता है, किन्तु जब वही पुरुष वृद्ध हो जाय, शरीर शिथिल एवं अशक्त हो जाय तो वजनदार लोहे के भार को उठा नहीं पाता। शरीर की दुर्बलता से जीव में भी दुर्बलता आ गयी, इसलिये वह भारी वजन नहीं उठा पाया, इससे तो मेरी धारणा ही पुष्ट होती है कि जीव और शरीर दोनों एक ही है, अलग–अलग नहीं।

समाधान : हे प्रदेशी! जैसे कोई तरुण यावत् समर्थ पुरुष नवीन कावड़ से, नवीन रस्सी से, नवीन सींके से और नवीन टोकरी से बहुत बड़े वजनदार लोहे के भार को उठाने में समर्थ होता है, किन्तु यदि सड़ी–गली, पुरानी, कमजोर, घुन खाई हुई कावड़ आदि से बहुत बड़े वजनदार लोहे के भार को नहीं उठा पाता है। क्योंकि उसके पास भार वहन करने के उपकरण–साधन जीर्ण–शीर्ण हैं।

तरुण और कार्यकुशल पुरुष होने पर भी साधनों की अपर्याप्तता के कारण भारी वजनदार लोहे के भार को नहीं उठा पाता, इससे तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अलग है और शरीर अलग है। यदि जीव और शरीर एक ही होते तो वह तरुण पुरुष साधनों की अपर्याप्तता होने पर भी वजनदार लोहे के भार को उठा लेता।

जिज्ञासा 9. हे भदन्त! एक दिन मेरे नगर रक्षक एक चोर को पकड़ लाए। मैंने उस चोर को जीवित अवस्था में तोला। तोलकर उसके अंग–भंग किये बिना ही मैंने उसे मार डाला। मारने के बाद फिर उसे तोला। उस पुरुष का जीवित अवस्था में जितना वजन था, उतना ही मरने के बाद था। उसमें किञ्चित् मात्र भी अन्तर नहीं आया। यदि वजन में किसी भी प्रकार की न्यूनाधिकता होती तो मैं यह श्रद्धा कर लेता कि जीव अन्य है, शरीर अन्य है। वजन में न्यूनाधिकता नहीं होने से मेरी यह धारणा सही है कि जीव और शरीर एक ही है।

समाधान : केशीश्रमण ने कहा– हे प्रदेशी! वजन में न्यूनाधिकता नहीं होना, जीव और शरीर को एक रूप सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि जिस प्रकार धौकनी में वायु भरकर उसका वजन करें तथा वायु निकालकर फिर वजन करें तो धौकनी के वजन में कोई अन्तर नहीं आता है, न्यूनाधिकता नहीं आती है, किन्तु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि धौकनी और वायु एक ही है। जीव अरूपी होने से, सूक्ष्म होने से, अगुरुलघुत्व गुण से युक्त होने से चोर के वजन में अन्तर नहीं हुआ, किन्तु इससे यह नहीं माना जा सकता कि जीव ओर शरीर एक ही है। अतः तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है।

जिज्ञासा 10. राजा प्रदेशी ने कहा– हे भदन्त! मैंने एक चोर को सभी ओर से (सिर से पैर तक) अच्छी तरह देखा–भाला, परन्तु उसमें मुझे कहीं भी जीव दिखाई नहीं दिया। इसके बाद मैंने उस चोर के दो, चार यावत् संख्यात टुकड़े किए, फिर उन टुकड़ों को मैंने अच्छी तरह से, सभी ओर से देखा, किन्तु उनमें भी मुझे कहीं पर भी जीव दिखाई नहीं दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव और शरीर अलग–अलग न होकर एक ही है।

समाधान : केशी श्रमण ने राजा प्रदेशी को कठियारे (लकड़ी ढोने वाले) का उदाहरण देकर इस प्रकार समझाया– हे प्रदेशी! वन में रहने वाले और वन से आजीविका कमाने वाले कुछ पुरुष आग और अँगीठी लेकर लकड़ियों के वन में गए। अपने एक साथी से कहा कि हम आगे जंगल में जाते हैं।

तुम यहाँ अँगीठी में आग लेकर हमारे लिये भोजन तैयार करना। यदि अँगीठी में आग बुझ जाये तो तुम इस लकड़ी से आग पैदा करके भोजन बना लेना।

साथियों के जंगल में आगे चले जाने पर उस पुरुष ने भोजन बनाना चाहा। अँगीठी के पास आकर देखा कि आग बुझ गई है। जहाँ काष्ठ पड़ा था, वहाँ आया, अच्छी तरह देखा, किन्तु काष्ठ में कहीं पर भी उसे आग दिखाई नहीं दी। तब उस पुरुष ने कुल्हाड़ी से काष्ठ के दो–तीन, चार यावत् संख्यात टुकड़े कर दिये, परन्तु देखने पर भी उन टुकड़ों में उसे कहीं आग दिखाई नहीं दी। मन ही मन बहुत दुःखी हुआ तथा चिन्ता में डूब गया कि मैं मेरे साथियों के लिये भोजन नहीं बना सका। साथियों के आने पर अग्नि के अभाव में भोजन न बना पाने का कारण विस्तार से उनके सामने प्रस्तुत किया। इतने में उसके एक साथी ने सर से अरणि काष्ठ को रगड़कर आग की चिनगारी प्रकट की। फिर उसे धौंकनी से सुलगाया और साथियों के लिये भोजन बनाया। काष्ठ के टुकड़ों में आग देखने के कारण वह कठियारा मूर्ख कहलाया। इसी प्रकार की तुम्हारी भी प्रवृत्ति देखकर मैंने यह कहा कि हे प्रदेशी! तुम उस कठियारे से भी अधिक मूर्ख हो जो शरीर के टुकड़े–टुकड़े करके जीव को देखना चाहते हो।

जिज्ञासा 11. हे भदन्त! क्या आप मुझे हथेली में स्थित आँवले की तरह शरीर से जीव को बाहर निकालकर दिखाने में समर्थ हैं?

समाधान : केशीश्रमण ने प्रत्युत्तर में कहा कि– हे प्रदेशी! जिस प्रकार तृण–घास–वृक्षादि वनस्पतियाँ वायु के कारण हिलने–डुलने, कम्पन्न करने, फरकने, परस्पर टकराने लगती हैं, किन्तु फिर भी वायु को आँखों से देखा नहीं जा सकता। हे प्रदेशी जब तुम सशरीरी वायु को भी नहीं देख सकते तो फिर जीव तो अरूपी है, इन्द्रियातीत है, उसे हथेली में रखे आँवले की तरह कैसे देख सकते हो? छद्मस्थ जीव दस वस्तुओं को नहीं देख पाते– 1. धर्मास्तिकाय 2. अधर्मास्तिकाय 3. आकाशास्तिकाय 4. अशरीरी जीव 5. परमाणु पुद्गल 6. शब्द 7. गन्ध 8. वायु 9. यह जिन (घातीकर्म क्षय करने वाला) होगा अथवा नहीं, 10. यह समस्त दुःखों का अन्त करेगा अथवा नहीं। केवलज्ञानी–सर्वज्ञ–सर्वदर्शी, अरिहन्त, जिन, केवली उक्त दस बातों को प्रत्यक्ष जान–देख सकते हैं। अतः तुम यह श्रद्धा करो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है।

जिज्ञासा 12. हे भदन्त! आप कहते हैं कि जीव अलग और शरीर अलग है तो क्या हाथी और कुंथु का जीव एक जैसा है? समान प्रदेश–परिमाण वाला है?

समाधान : हे प्रदेशी! हाथी और कुंथु का जीव समान प्रदेश–परिमाण वाला है। यहाँ तक कि सभी जीवों के आत्म–प्रदेश एक समान असंख्यात ही होते हैं। चाहे वह जीव सिद्ध हो अथवा संसारी। संसारी में भी त्रस हो अथवा स्थावर। स्थावर में भी सूक्ष्म हो अथवा बादर। प्रत्येक कायिक हो अथवा अनन्त कायिक। दीपक का उदाहरण देते हुए समझाया कि हे प्रदेशी! जिस प्रकार जलते हुए दीपक को बड़े हॉल में रखने पर उसका प्रकाश पूरे हॉल में फैल जाता है। छोटे कमरे में रखने पर कमरे में फैलता है। कुण्डे के नीचे, टोकरी के नीचे, थाली के नीचे, कटोरी के नीचे यदि जलता दीपक रखेंगे तो दीपक का प्रकाश क्रमशः उतने तक ही फैल पायेगा। सभी अवस्थाओं में जलता हुआ दीपक समान है, फिर भी जितनी जगह में रखेंगे उतना ही प्रकाश फैलेगा। ठीक उसी प्रकार प्रत्येक जीव के आत्मप्रदेश बराबर–बराबर होते हैं, किन्तु कर्मोदय से जैसा–जैसा शरीर मिलता हे, शरीर का ज्यों–ज्यों आकार बढ़ता है, उसी अनुपात में जीव के प्रदेश भी संकोच और विस्तार को प्राप्त हो जाते हैं, क्योंकि जीव में संकोच और विस्तार का गुण रहा हुआ है। अतः जीव, शरीर से भिन्न है तथा सभी जीव समान प्रदेश वाले हैं। यहाँ पर यह भी समझना चाहिये

कि जीव न तो अणु प्रमाण है और न सर्वव्यापी है, किन्तु कर्मोपार्जित शरीर के आकार के अनुरूप, असंख्यात प्रदेशी है।

जिज्ञासा 13. हे भदन्त! आप तो कहते हैं कि जीव और शरीर अलग– अलग है, किन्तु मेरे पिता, पितामह आदि की अनेक पीढ़ियों से यह मान्यता रही है कि जीव और शरीर एक ही है तो फिर मैं अपने पूर्वजों की मान्यता को कैसे छोड़ दूँ?

समाधान : हे प्रदेशी! यदि पूर्वजों की मिथ्या मान्यता को नहीं छोड़ोगे तो तुम्हें भी लोहवणिक् की तरह पश्चात्ताप करना पड़ेगा। कुछ लोग धन कमाने हेतु अपने–अपने घरों से रवाना हुए। बहुत बड़ी अटवी (वन) में जा पहुँचें, वहाँ उन्होंने विशाल लोहे की खान देखी। लोहे को बिखरा पड़ा देखकर उन सबने लोहे का भार साथ में ले लिया और आगे चल दिये।

आगे बढ़ने पर उन्होंने सीसे से भरी एक विशाल खान देखी। विचार–विमर्श कर लोहे के भार को छोड़कर सीसे का भार साथ में ले लिया, किन्तु उनमें से एक व्यक्ति लोहे को छोड़कर सीसा लेने को तैयार नहीं हुआ। साथियों के समझाने पर भी नहीं माना।

आगे–आगे बढ़ने पर उन्होंने क्रमशः तांबे की, चाँदी की, सोने की, रत्नों की और हीरों की खानें देखी एवं इनको जैसे–जैसे बहुमूल्य वस्तुएँ मिलती गई, वैसे–वैसे पहले–पहले के अल्प मूल्य वाले तांबे आदि को छोड़कर अधिक–अधिक मूल्यवाली वस्तुओं को बान्धते गए। सभी खानों पर उन्होंने अपने उस दुराग्रही साथी को समझाया, किन्तु उसने दुराग्रह नहीं छोड़ा, लोहे के भार को नहीं छोड़ा।

सभी साथी अपने–अपने निवास स्थान पर आ गये। नई–नई मूल्यवान् वस्तुओं को ग्रहण करने वालों ने तो आनन्द पूर्वक अपना जीवन व्यतीत किया, किन्तु लोहे के भार वाले वणिक् ने दुःख एवं पश्चात्ताप पूर्वक अपना समय व्यतीत किया।

इसी प्रकार हे प्रदेशी। यदि तुम भी पूर्वजों की मिथ्या मान्यता को, दुराग्रह को नहीं छोड़ोगे तो तुम्हे भी पश्चात्ताप करते हुए दुःखी होना पड़ेगा।

इस प्रकार केशीश्रमण के सम्यक् प्रकार से समझाए जाने पर राजा प्रदेशी को जीव और शरीर की भिन्नता सम्बन्धी तत्त्व–बोध प्राप्त हुआ। प्रदेशी राजा ने केशीश्रमण को वन्दना की, तत्पश्चात् निवेदन किया कि भदन्त! मैं अब वैसा कुछ नहीं करूँगा, जिससे मुझे लोह भार वाले वणिक् के समान पश्चात्ताप करके दुःखी होना पड़े।

राजा प्रदेशी ने केशी श्रमण के श्रीमुख से केवली प्ररूपित धर्म का श्रवण किया। जीव–अजीव आदि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सम्यक्त्वी बन गया। फिर उसने अपनी लक्ष्मी के चार विभाग किये, उसमें से एक विभाग धर्म–दान के लिए रख लिया। उसने बेले–बेले की तपस्या आरम्भ की। महामुनि केशीश्रमण वहाँ से विहार कर चले गए। रानी सूर्यकान्ता ने अपने स्वामी को धर्म में दृढ़ समझकर तथा संसार के भोग–विलासों से विरक्त देखकर सोचा कि अब मेरे लिये यह निरुपयोगी है। यह सोचकर उसने अपने पति को बेले के पारणे के समय भोजन में विष खिला दिया। राजा को विष दिए जाने की बात ज्ञात हो गई, फिर भी उसने समभाव रखा, रानी पर तनिक भी द्वेष भाव नहीं किया। समाधिभाव में शरीर त्याग करके वह पहले देवलोक के सूर्याभ नामक विमान में देवरूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होगा और संयम धारण करके मोक्ष को प्राप्त करेगा।

तत्त्व विभाग–

तत्त्वार्थ सूत्र - अध्याय-8

बन्ध तत्त्व

सूत्र– मिथ्यादर्शनाविरति-प्रमाद-कषाय-योगा बन्धहेतवः।1।

व्याख्या– मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – ये पाँच बन्ध के हेतु हैं।

प्र.1 कर्मबन्ध के हेतु कितने हैं? नाम लिखिए।

उत्तर– कर्मबन्ध के पाँच हेतु हैं– 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय और 5. योग।

प्र.2 बन्ध हेतुओं की संख्या के विषय में कौन–कौनसी परम्पराएँ हैं?

उत्तर– बन्ध हेतुओं की संख्या के विषय में तीन परम्पराएँ दृष्टिगत होती हैं–

1. पहली परम्परा– कषाय और योग, दो बन्ध हेतु हैं।
2. दूसरी परम्परा– मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार बन्ध हेतु हैं।
3. तीसरी परम्परा– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – ये पाँच बन्ध हेतु हैं।

प्र.3 मिथ्यात्व किसे कहते हैं?

उत्तर– मिथ्यात्व का अर्थ मिथ्यादर्शन है, यह सम्यक् दर्शन का विपरीत होता है।

वस्तु विषयक यथार्थ (वास्तविक) श्रद्धान का अभाव एवं वस्तु के अयथार्थ श्रद्धान को मिथ्यात्व कहते हैं।

प्र.4 अविरति किसे कहते हैं?

उत्तर– हिंसादि दोषों से विरत न होना अविरति है।

प्र.5 प्रमाद किसे कहते हैं?

उत्तर– आत्मविस्मरण को प्रमाद कहते हैं। आत्म–विस्मरण से तात्पर्य कुशल कार्यों में अनादर, अकर्त्तव्य–कर्त्तव्य में असावधानी है। दूसरे शब्दों में कर्मबन्धन के जितने भी कार्य हैं, वे सभी प्रमाद हैं।

प्र.6 कषाय क्या है?

उत्तर– आत्मा के कलुषित परिणामों को कषाय कहा जाता है या समभाव की मर्यादा तोड़ना कषाय है।

प्र.7 योग किसे कहते हैं?

उत्तर– मन, वचन व काया की प्रवृत्ति को योग कहते हैं।

बन्ध का स्वरूप

सूत्र– सकषायत्वाज्जीव कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते।2।

स बन्धः।3।

व्याख्या– कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, वह बन्ध है।

प्र.1 कर्म योग्य पुद्गलों को कौन ग्रहण करता है?

उत्तर– कषाय सहित जीव कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है।

प्र.2 बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर– कषाय सहित होने से जीव के द्वारा कर्म–योग्य पुद्गलों को ग्रहण किया जाता है, उसे बन्ध कहते हैं।

बन्ध के प्रकार

सूत्र– प्रकृतिस्थित्यनुभाव प्रदेशास्तद्विधयः।4।

व्याख्या– प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश, ये चार प्रकार के बन्ध हैं।

प्र.1 प्रकृति बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर– कर्म पुद्गलों में ज्ञान को आवरित करने, दर्शन को रोकने, सुख–दुःख देने आदि का जो स्वभाव बनता है, वह स्वभाव निर्माण ही प्रकृति बन्ध है।

प्र.2 स्थिति बन्ध क्या है?

उत्तर– कर्म पुद्गलों में ज्ञानादि को आवरित करने का जो स्वभाव निर्मित होता है, वह स्वभाव पुद्गलों में कितने काल पर्यन्त रहेगा, यह काल मर्यादा ही स्थिति बन्ध है।

प्र.3 अनुभाव बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर– कर्म पुद्गलों में निर्मित स्वभाव में तीव्रता–मन्दता आदि रूप में फलानुभव कराने वाली जो विशेषताएँ बन्धती हैं, उन्हें अनुभाव या रस बन्ध कहते हैं।

प्र.4 प्रदेश बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर– जीवों द्वारा ग्रहीत कर्म पुद्गल राशि स्वभावानुसार अमुक–अमुक परिमाण में बँट जाती है, यह परिमाण–विभाग ही प्रदेश बन्ध है।

मूल प्रकृति भेद

सूत्र– आद्यो ज्ञानदर्शनावरण - वेदनीय - मोहनीयायुष्क नामगोत्रान्तरायाः।5।

व्याख्या– बंध के चार प्रकारों में से पहले प्रकृति बंध के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय, ये आठ मूल भेद हैं।

उत्तर प्रकृति के भेदों की संख्या

सूत्र– पंचनवद्व्यष्टाविंशति - चतुर्द्विचत्वारिंशद् - द्विपंच भेदा यथाक्रमम्।6।

व्याख्या– आठ मूल प्रकृतियों के यथाक्रम से पाँच, नव, दो, अट्ठाईस, चार, बयालीस, दो और पाँच उत्तर भेद होते हैं, अर्थात् ज्ञानावरणीय के पाँच, दर्शनावरणीय के नौ, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयुष्य के चार, नाम के बयालीस, गोत्र के दो तथा अन्तराय के पाँच – ये सब उत्तर प्रकृति के 97 भेद होते हैं।

प्र.1 प्रकृति बन्ध के मूल एवं उत्तर भेद कितने हैं?

उत्तर– प्रकृति बन्ध के आठ मूल तथा 97 उत्तर भेद हैं।

ज्ञानावरण के उत्तर प्रकृति-भेद

सूत्र– मत्यादीनाम्।7।

व्याख्या– मति आदि पाँच ज्ञानों के आवरण मति ज्ञानावरण, श्रुत ज्ञानावरण, अवधि ज्ञानावरण, मनःपर्याय ज्ञानावरण तथा केवल ज्ञानावरण, ये पाँच उत्तर प्रकृति–भेद हैं।

दर्शनावरण के उत्तर प्रकृति-भेद

सूत्र- चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रा प्रचला-प्रचला स्त्यानगृद्धि वेदनीयानि च।8।

व्याख्या– चक्षु आदि चार दर्शनों के आवरण चक्षु दर्शनावरण, अचक्षु दर्शनावरण, अवधि दर्शनावरण और केवल दर्शनावरण, ये चार तथा निद्रा, निद्रा–निद्रा, प्रचला, प्रचला–प्रचला और स्त्यानगृद्धि रूप पाँच वेदनीय, ये नौ दर्शनावरण के उत्तर प्रकृति–भेद हैं।

प्र.1 पाँच प्रकार की निद्राओं की विवेचना कीजिए।

उत्तर– दर्शनावरण के नौ भेदों में शामिल पाँच निद्राओं का स्वरूप निम्नानुसार है :–

1. **निद्रा वेदनीय–** जिस कर्म के उदय से ऐसी निद्रा आये कि सुखपूर्वक जाग सके, निद्रा वेदनीय दर्शनावरण है।
2. **निद्रा–निद्रा–** ऐसा दर्शनावरण जिसके उदय से निद्रा से जागना अत्यन्त कठिन हो, निद्रा–निद्रा वेदनीय दर्शनावरण कहा जाता है।
3. **प्रचला–** ऐसा दर्शनावरण जिसके उदय से बैठे–बैठे या खड़े–खड़े नींद आ जाय, प्रचला वेदनीय दर्शनावरण कहा जाता है।
4. **प्रचला–प्रचला–** ऐसा दर्शनावरण जिसके उदय से चलते–चलते ही नींद आ जाय, वह प्रचला–प्रचला वेदनीय दर्शनावरण है।
5. **स्त्यानगृद्धि–** जिस कर्म के उदय से जागृत अवस्था में सोचे हुए काम को निद्रावस्था में करने का सामर्थ्य प्रकट हो जाय, वह स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण है। इस निद्रा में स्वाभाविक बल से अनेक गुना अधिक बल प्रकट होता है।

वेदनीय के उत्तर प्रकृति-भेद

सूत्र- सदसद्वेद्ये।9।

व्याख्या– प्रशस्त या सुखवेदनीय तथा अप्रशस्त या दुःखवेदनीय, ये दो वेदनीय के उत्तर प्रकृति भेद हैं।

प्र.1 साता और असाता वेदनीय से क्या तात्पर्य है?

उत्तर– जिस कर्म के उदय से जीव को सुख या साता का अनुभव हो, वह साता वेदनीय तथा जिस कर्म के उदय से जीव को दुःख या असाता का अनुभव हो, वह असाता वेदनीय है।

मोहनीय के उत्तर प्रकृति-भेद

सूत्र- दर्शनचारित्रमोहनीय कषाय - नोकषाय - वेदनीयाख्या स्त्रिद्विषोडशनवभेदाः सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयानि कषाय नोकषायावनन्तानुबन्ध्य - प्रत्याख्यान - प्रत्याख्यानावरण - संज्वलन विकल्पाश्चैकशः क्रोध-मान- माया- लोभा हास्य रत्यरतिशोक भय जुगुप्सास्त्रीपुंनपुंसक- वेदाः।10।

व्याख्या– दर्शनमोह, चारित्रमोह, कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय इन चारों के क्रमशः तीन, दो, सौलह तथा नौ भेद हैं। सम्यक्त्व, मिथ्यात्व तथा मिश्र, ये तीन दर्शन मोहनीय के भेद हैं। कषाय और

नौकषाय, ये दो चारित्र मोह के भेद हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारों अनंतानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण तथा संज्वलन के भेद से चार–चार प्रकार के होने से कषाय मोहनीय के 16 भेद होते हैं तथा हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद, ये नौ, नोकषाय के भेद हैं।

प्र.1 मोहनीय कर्म के मुख्य भेद कितने हैं?

उत्तर– मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं– 1. दर्शन मोहनीय 2. चारित्र मोहनीय।

प्र.2 दर्शन मोहनीय के भेदों को समझाइए।

उत्तर– जीव के विचार, दृष्टिकोण अथवा विवेक को प्रभावित करने वाला कर्म, दर्शन मोहनीय कर्म है। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं :–

1. **मिथ्यात्व मोहनीय–** जिसके उदय से तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप में रूचि न हो, वह मिथ्यात्व मोहनीय है।
2. **सम्यक्त्व मोहनीय–** जिस कर्म का उदय तात्त्विक रुचि का निमित्त होकर भी औपशमिक एवं क्षायिक भाव वाली तत्त्व रुचि में बाधा उत्पन्न करता है, उसे सम्यक्त्व मोहनीय कहते हैं।
3. **मिश्र मोहनीय–** जिस कर्म के उदय से यथार्थ की एकान्त रुचि या अरुचि न होकर डावाँडोल स्थिति रहे, वह मिश्र मोहनीय है।

प्र.3 कषाय के सौलह भेद लिखिए।

उत्तर– **1. अनन्तानुबन्धी–** क्रोध, मान, माया और लोभ।

2. अप्रत्याख्यानी– क्रोध, मान, माया और लोभ।

3. प्रत्याख्यानावरण– क्रोध, मान, माया और लोभ।

4. संज्वलन– क्रोध, मान, माया और लोभ।

प्र.4 अनन्तानुबन्धी कषाय किसे कहते हैं?

उत्तर– जीव को अनन्तकाल तक संसार में भटकाने वाला तथा अनन्तकर्मों का बन्ध कराने वाला कषाय अनन्तानुबन्धी कषाय कहलाता है। जब तक यह कषाय रहता है, जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती है।

प्र.5 अप्रत्याख्यानी कषाय क्या है?

उत्तर– जिन कर्मों के उदय से जीव किसी भी प्रकार के व्रत ग्रहण नहीं कर सके, उसे अप्रत्याख्यानी कषाय कहते हैं। यह कषाय विरति का प्रतिबन्ध (रूकावट) करता है।

प्र.6 प्रत्याख्यानावरण कषाय क्या है?

उत्तर– देश विरति का प्रतिबन्ध न करके सर्वविरति का प्रतिबन्ध करने वाला कषाय प्रत्याख्यानावरण कषाय कहा जाता है। यह कषाय साधुपना नहीं आने देता है।

प्र.7 संज्वलन कषाय क्या है?

उत्तर– सर्वविरति का प्रतिबन्ध न करके उसमें मलिनता उत्पन्न कराने वाला कषाय संज्वलन कषाय कहलाता है। यह कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करता है।

प्र.8 नोकषाय का विवेचन कीजिए।

उत्तर– मुख्य कषाय के सहचारी एवं उनके बढ़ाने में सहायक कषाय, नोकषाय कहे जाते हैं। नोकषाय नौ होते हैं–

1. **हास्य–** हास्य को उत्पन्न करने वाला हास्यमोहनीय।
2. **रति–** किसी व्यक्ति या वस्तु में राग उत्पादक कर्म।
3. **अरति–** किसी व्यक्ति या वस्तु में द्वेष उत्पादक कर्म।
4. **भय–** भयशीलता का जनक कर्म।
5. **शोक–** शोक उत्पन्न करने वाला।
6. **जुगुप्सा–** घृणा उत्पादक कर्म।
7. **स्त्री वेद–** स्त्री भाव–विकार अथवा पुरुष के साथ भोग भोगने की इच्छा वाला उत्पादक कर्म।
8. **पुरुष वेद–** पुरुष भाव–विकार अर्थात् स्त्री के साथ भोग भोगने की इच्छा वाला उत्पादक कर्म।
9. **नपुंसक वेद–** नपुंसक भाव–विकार अर्थात् स्त्री–पुरुष, दोनों के साथ भोग भोगने की तीव्र इच्छा वाला उत्पादक कर्म।

आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

सूत्र– नारकतैर्यग्योनमानुष दैवानि।11।

व्याख्या– नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, ये चार आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ

सूत्र– गतिजातिशरीरांगोपांग निर्माण-बन्धनसंघात-संस्थान संहनन-स्पर्श-रसगंधवर्णानुपूर्व्यगुरुलघूपघात पराघातात- पोद्योतोच्छ्वास विहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभग- सुस्वर शुभसूक्ष्म-पर्याप्त - स्थिरादेययशांसि सेतराणि तीर्थकृत्त्वं च।12।

व्याख्या– गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संघात, संस्थान, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, पराघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति तथा प्रत्येक शरीर, त्रस, सुभग, सुस्वर, शुभ, सूक्ष्म, पर्याप्त, स्थिर, आदेय एवं यश, ये दस तथा इनके विपरीत साधारण शरीर, स्थावर, दुर्भग, दुःस्वर, अशुभ, बादर, अपर्याप्त, अस्थिर, अनादेय एवं अयश और तीर्थंकरनाम, ये 42 नामकर्म के प्रकार हैं।

प्र.1 नाम कर्म की 42 उत्तर प्रकृतियों का विवेचन कीजिए।

उत्तर– नाम कर्म की 42 उत्तर प्रकृतियों को अध्ययन की दृष्टि से तीन भागों में बाँटते हैं– (अ) चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ, (ब) आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ, (स) त्रस दशक एवं स्थावर दशक।

(अ) चौदह पिण्ड प्रकृतियाँ–

1. **गति 4** – नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव।
2. **जाति 5** – एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।
3. **शरीर 5** – औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस्, कार्मण।
4. **अंगोपांग 3** – औदारिक, वैक्रिय, आहारक।
5. **बन्धन 5** – औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस्, कार्मण।
6. **संघात 5** – औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस्, कार्मण।
7. **संहनन 6** – वज्र ऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका, सेवार्त्त।
8. **संस्थान 6** – समचौरस, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्जक, हुण्डक।
9. **वर्ण 5** – काला, नीला, लाल, पीला, श्वेत।
10. **गंध 2** – सुरभि गंध, दुरभि गंध।
11. **रस 5** – तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा, मीठा।
12. **स्पर्श 8** – खुरदरा, कोमल, हल्का, भारी, ठण्डा, गर्म, लुखा, चिकना।
13. **विहायोगति 2** – अशुभ, शुभ।
14. **आनुपूर्वी 4** – नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव

(ब) आठ प्रत्येक प्रकृतियाँ–

1. अगुरु लघु	2. उपघात
3. पराघात	4. आतप
5. उद्योत	6. उच्छ्वास
7. निर्माण	8. तीर्थंकर

(स) त्रस एवं स्थावर दशक

त्रस दशक	**स्थावर दशक**

त्रस	स्थावर
बादर	सूक्ष्म
पर्याप्त	अपर्याप्त
प्रत्येक	साधारण
स्थिर	अस्थिर
शुभ	अशुभ
सुभग	दुर्भग
सुस्वर	दु:स्वर
आदेय	अनादेय
यश:कीर्ति	अयश: कीर्ति

प्र.1 निम्नलिखित को परिभाषित कीजिए :–
उपघात, पराघात, आतप, उद्योत, निर्माण, अगुरुलघु, तीर्थंकर एवं श्वासोच्छ्वास।

उत्तर– उपघात – चोरदन्त, प्रतिजिह्वा आदि उपघातकारी अवयवों को प्राप्त कराने वाला कर्म, उपघात है।

पराघात – दर्शन या वाणी से दूसरों को पराजित कर देने वाला कर्म, पराघात है।

आतप – शीतल शरीर में उष्ण प्रकाश का नियामक कर्म, आतप है। जैसे–सूर्य।

उद्योत – शीतल शरीर में शीत प्रकाश का नियामक कर्म, उद्योत है। जैसे–चन्द्रमा।

निर्माण – शरीर के अंग–प्रत्यंगों का यथोचित्त स्थान पर व्यवस्थित करने वाला कर्म, निर्माण कर्म है।

अगुरुलघु – जिस कर्म के उदय से शरीर गुरु (अत्यधिक भारी) या लघु (अत्यधिक हल्का) परिणाम को न पाकर अगुरुलघु रूप में रहता है, उसे अगुरुलघुकर्म कहते हैं।

श्वासोच्छ्वास – श्वास लेने व छोड़ने की शक्ति का नियामक कर्म, श्वासोच्छ्वास कर्म है।

तीर्थंकर – धर्म एवं तीर्थ प्रवर्तन करने की शक्ति देने वाला कर्म, तीर्थंकर नाम कर्म है।

प्र.2 शुभ एवं सुभग में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– जिस कर्म के उदय से नाभि से ऊपर के अवयव श्रेष्ठ हो, उसे शुभनामकर्म तथा जिस कर्म के उदय से बिना किसी उपकार के जो सबको प्रिय लगे, वह सुभग नामकर्म है।

प्र.3 आदेय व अनादेय नामकर्म क्या है?

उत्तर– जिस कर्म के उदय से वचन बहुमान्य हों, वह आदेय नामकर्म एवं जिस कर्म के उदय से वचन बहुमान्य न हों, वह अनादेय नामकर्म है।

गोत्र एवं अन्तराय कर्म की प्रकृतियाँ

सूत्र– उच्चैर्नीचैश्च।13।

व्याख्या– उच्च और नीच, ये दो गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

सूत्र– दानादीनाम्।14।

व्याख्या– दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, इन पाँच के अन्तराय ही अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं, अर्थात् दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय एवं वीर्यान्तराय, ये अन्तराय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

स्थिति बन्ध

सूत्र– आदितस्तिसृणामन्तरायस्य च त्रिंशत्सागरोपम कोटीकोट्यः परास्थितिः।15।

व्याख्या– प्रारम्भ के तीन अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वेदनीय, इन तीन एवं अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 30 कोटाकोटी सागरोपम है।

सूत्र– सप्ततिर्मोहनीयस्य।16।

व्याख्या– मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोटा–कोटी सागरोपम है।

सूत्र– नामगोत्रयोर्विंशतिः।17।

व्याख्या– नाम और गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोटाकोटी सागरोपम है।

सूत्र– त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुष्कस्य।18।

व्याख्या– आयुष्क कर्म की उत्कृष्ट स्थिति 33 सागरोपम है।

सूत्र– अपरा द्वादश मुहूर्ता वेदनीयस्य।19।
नामगोत्रयोरष्टौ।20।
शोषाणामन्तर्मुहूर्तम्।21।

व्याख्या– वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति 12 मुहूर्त, नाम और गोत्र की जघन्यस्थिति 8 मुहूर्त, शेष पाँच अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, आयुष्क व अन्तराय कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तमुहूर्त हैं।

प्र.1 प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के अधिकारी कौन हैं?

उत्तर– प्रत्येक कर्म की उत्कृष्ट स्थिति के अधिकारी मिथ्यादृष्टि संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव होते हैं।

प्र.2 प्रत्येक कर्म की जघन्य स्थिति के अधिकारी कौन हैं?

उत्तर– 1. ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन छः कर्मों की जघन्य स्थिति के अधिकारी दसवें गुणस्थानवर्ती जीव हैं।

2. मोहनीय की जघन्य स्थिति के अधिकारी 9वें गुणस्थानवर्ती जीव हैं।

3. आयुष्य की जघन्य स्थिति संख्यात वर्ष जीवी मनुष्य एवं तिर्यञ्च में सम्भव है।

अनुभाव बन्ध

सूत्र– विपाकोऽनुभावः।22।

व्याख्या– विपाक अर्थात् विविध प्रकार के फल देने की शक्ति ही अनुभाव है।

सूत्र– स यथानाम।23।

व्याख्या– वह अनुभाव भिन्न–भिन्न कर्म की प्रकृति या स्वभावानुसार होता है।

सूत्र– ततश्चनिर्जरा।24।

व्याख्या– उससे अर्थात् कर्मों के वेदन से उनकी निर्जरा होती है।

प्र.1 अनुभाव कब फल देता है?

उत्तर– अनुभाव समय आने पर (अबाधाकाल पूर्ण होने पर) फल देता है।

प्र.2 अनुभाव का वेदन कर्म की प्रकृति के अनुसार होता है, इसका क्या आशय है?

उत्तर– अनुभाव–शक्ति जिस कर्म में रही हुई है, उस कर्म के स्वभावानुसार फल देती है, अन्य कर्म के स्वभावानुसार नहीं। जैसे– ज्ञानावरण कर्म का अनुभाव–ज्ञान को ही आवृत करेगा, वह दर्शन को आवृत नहीं करेगा।

प्र.3 कर्म के स्वभावानुसार विपाक के अनुभाव बंध का नियम किन कर्म प्रकृतियों पर लागू होता है?

उत्तर– कर्म के स्वभावानुसार विपाक के अनुभाव बन्ध का नियम मूल कर्म प्रकृतियों पर लागू होता है। उत्तर प्रकृतियों पर नहीं। अर्थात् एक ही कर्म की उत्तर प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण हो सकता है।

प्र.4 ऐसी कौनसी उत्तर प्रकृतियाँ हैं, जिनका परस्पर संक्रमण संभव नहीं है?

उत्तर– 1. दर्शनमोह का चारित्र मोह में अथवा चारित्र मोह का दर्शन मोह में संक्रमण नहीं होता है।

2. आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है।

प्र.5 अनुभाव या वेदन द्वारा होने वाली निर्जरा एवं तप से होने वाली निर्जरा में क्या अन्तर है?

उत्तर– अनुभाव से होने वाली निर्जरा फलोदय के पश्चात् फलभोग से होती है, जबकि तप के बल से फलोदय से पहले ही कर्म आत्मप्रदेशों से अलग हो जाते हैं।

प्रदेश बन्ध

सूत्र– नामप्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाढ– स्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त प्रदेशाः।25।

व्याख्या– नाम अर्थात् कर्म प्रकृतियों के कारणभूत सूक्ष्म, एक क्षेत्र को अवगाहन करके रहे हुए तथा अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल, योगविशेष से सभी ओर से सभी आत्म–प्रदेशों में बन्ध को प्राप्त होते हैं, वह प्रदेश बन्ध है।

प्र.1 प्रदेश बन्ध किसे कहते हैं?

उत्तर– कर्म प्रकृति के कारणभूत, सूक्ष्म, एक क्षेत्र में अवगाहन करके रहे हुए तथा अनन्तानन्त प्रदेश वाले पुद्गल स्कन्धों का, योग विशेष से सभी आत्मप्रदेशों में बन्ध को प्राप्त होना, प्रदेश बन्ध कहलाता है।

प्र.2 सभी जीवों का कर्म बन्ध असमान क्यों होता है?

उत्तर– योग विशेष के कारण कर्म स्कन्धों का आत्मा के साथ बन्ध होता है, अतः योग की तरतमता के कारण कर्म बन्ध असमान होता है।

प्र.3 आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्म स्कन्ध कैसे होते हैं?

उत्तर– आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होने वाले कर्म स्कन्ध सूक्ष्म, स्थिर एवं अनन्तानन्त प्रदेशों वाले होते हैं।

प्र.4 किस दिशा में रहे आत्म–प्रदेशों द्वारा कर्म स्कन्धों का ग्रहण होता है?

उत्तर– सभी दिशाओं में रहे आत्म–प्रदेशों द्वारा कर्म स्कन्धों का ग्रहण होता है।

प्र.5 आत्मा (जीव) किस क्षेत्र के कर्म स्कन्धों को ग्रहण करता है?

उत्तर– जीव–प्रदेश के क्षेत्र में रहे हुए कर्म स्कन्धों को ही जीव ग्रहण करता है, बाहर के नहीं।

पुण्य और पाप प्रकृतियाँ

सूत्र– सद्वेद्य सम्यक्त्व-हास्य रति-पुरुषवेद-शुभायुर्नाम- गोत्राणि पुण्यम्।26।

व्याख्या– साता वेदनीय, सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति, पुरुष वेद, शुभ आयु, शुभनाम, शुभगोत्र, ये पुण्यरूप प्रकृतियाँ हैं।

यहाँ पर सम्यक्त्व मोहनीय, हास्य, रति और पुरुषवेद, इन मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को पुण्य प्रकृतियों में बतलाया है, जो अपेक्षा विशेष से ही समझना चाहिये, अन्यथा आगम–धारणा से तो मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों को एकान्त पाप रूप ही माना गया है।

अध्याय-9 : (संवर-निर्जरा)

संवर का स्वरूप

सूत्र- आश्रवनिरोधः संवरः।1।

व्याख्या– आश्रव का निरोध या प्रतिबन्ध संवर है।

प्र.1 आध्यात्मिक विकास का क्रम किस पर आश्रित है?

उत्तर– आध्यात्मिक विकास का क्रम आश्रव निरोध के विकास पर आश्रित है। अतः जैसे–जैसे आश्रव निरोध या संवर बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे गुणस्थानों की भी वृद्धि होती है।

संवर के उपाय

सूत्र- स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः।2।

व्याख्या– वह संवर गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से होता है।

सूत्र- तपसा निर्जरा च॥3॥

व्याख्या– तप से संवर और निर्जरा होती है।

प्र.1 संवर के संक्षेप में कितने भेद हैं?

उत्तर– संवर के संक्षेप में सात भेद हैं– 1. गुप्ति, 2. समिति, 3. धर्म, 4. अनुप्रेक्षा, 5. परीषहजय 6. चारित्र व 7. तप।

प्र.2 संवर के विस्तार से कितने भेद होते हैं?

उत्तर– संवर के विस्तार से 69 भेद होते हैं– 1. गुप्ति–3, 2. समिति–5, 3. धर्म–10, 4. अनुप्रेक्षा–12, 5. परीषहजय–22, 6. चारित्र–5, 7. तप–12 (3+5+10+12+22+5+12=69)

प्र.3 तप से संवर तथा निर्जरा दोनों कैसे सम्भव है?

उत्तर– सम्यग्ज्ञान–दर्शन पूर्वक तप करने से मिथ्यात्वादि आश्रवों का त्याग हो जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप नये पाप–कर्मों का बन्धन नहीं होने से, आगमन नहीं होने से संवर हो जाता है। विवेक पूर्वक बाह्य–आभ्यन्तर तप करने से आत्मा पर पहले के बन्धे कर्मों की निर्जरा भी होती है। अतः तप से संवर व निर्जरा दोनों होती है।

सूत्र- सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति।4।

व्याख्या– योगों का विवेकपूर्वक सम्यग् निग्रह (रोकना) ही गुप्ति है।

प्र.1 गुप्ति किसे कहते हैं?

उत्तर– मन, वचन व काय योगों का विवेक एवं श्रद्धापूर्वक प्रशस्त निग्रह ही 'गुप्ति' है। योगों का अप्रशस्त निग्रह गुप्ति नहीं है।

प्र.2 गुप्ति कितनी होती हैं? समझाइए।

उत्तर– गुप्ति तीन होती हैं–

1. **मनोगुप्ति–** अशुभ मनयोग का त्याग करना, मन को शुभ में लगाना अथवा धर्मध्यान व शुक्लध्यान ध्याना 'मनोगुप्ति' है।

2. **वचनगुप्ति–** बोलने के प्रत्येक प्रसंग पर अशुभ वचन का त्याग करना या मौन धारण करना 'वचनगुप्ति' है।
3. **कायगुप्ति–** काय की अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग करना अथचा चंचलता का निरोध करना 'कायगुप्ति' है।

समिति भेद

सूत्र– **ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः समितयः।5।**

व्याख्या– सम्यग् ईर्या, सम्यग्भाषा, सम्यग् एषणा, सम्यग् आदान निक्षेप और सम्यग् उत्सर्ग, ये पाँच समितियाँ हैं।

प्र.1 समिति किसे कहते हैं?

उत्तर– विवेकपूर्वक सत्प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।

प्र.2 समिति कितनी होती हैं? समझाइए।

उत्तर– समिति पाँच होती हैं–

1. **ईर्या समिति–** जीवों को क्लेश न हो, छः काय के जीवों की यतना हो, इसलिए देखकर सावधानी पूर्वक चलना 'ईर्या समिति' है।
2. **भाषा समिति–** सत्य, हितकारी, परिमित एवं संदेह रहित भाषा बोलना 'भाषा समिति' है।
3. **एषणा समिति–** संयम यात्रा के लिए आवश्यक निर्दोष साधनों को जुटाने के लिए सावधानी पूर्वक प्रवृत्ति करना 'एषणा समिति' है।
4. **आदान निक्षेप समिति–** वस्तु मात्र को भली–भाँति देखकर एवं पूँज करके लेना तथा रखना 'आदान निक्षेप समिति' है।
5. **उत्सर्ग समिति–** अनुपयोगी वस्तुओं एवं मल–मूत्र आदि का जीव रहित क्षेत्र में भली–भाँति देखकर एवं स्थान प्रमार्जन कर विसर्जन करना (परठना) 'उत्सर्ग समिति' है।

सूत्र– **उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागकिंचन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः।6।**

व्याख्या– क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य, ये दस उत्तम धर्म हैं।

प्र.1 यतिधर्म किसे कहते हैं?

उत्तर– क्षमा आदि दस प्रकार के उत्तम धर्म जब अहिंसा आदि मूल गुणों तथा स्थान, आहार–शुद्धि आदि उत्तरगुणों के प्रकर्ष से युक्त होता है, तब यतिधर्म कहलाता हैं।

प्र.2 दस प्रकार के धर्मों को संक्षेप में समझाइए।

उत्तर– दस धर्म निम्न प्रकार हैं–

1. **क्षमा–** सहनशील रहना अर्थात् क्रोध पैदा न होने देना और उत्पन्न क्रोध को विवेक एवं नम्रता से निष्फल करना 'क्षमा' है।
2. **मार्दव–** चित्त में मृदुता और व्यवहार में विनम्रता का होना 'मार्दव' है।
3. **आर्जव–** भाव की विशुद्धि अर्थात् विचार, भाषण और व्यवहार की एकता ही 'आर्जव' है।
4. **शौच–** धर्म के साधन तथा शरीर तक में भी आसक्ति न रखना ऐसी निर्लोभता 'शौच' है।

5. **सत्य–** अपने समशील सत्पुरुषों के साथ बोलने में, व्यवहार में हित, मित और यथार्थवचन का उपयोग करना 'सत्य' नामक यतिधर्म है।
6. **संयम–** मन, वचन एवं काया का नियमन करना अर्थात् विचार, वाणी और गति, स्थिति आदि में यतना का अभ्यास 'संयम' है।
7. **तप–** मलिन वृत्तियों को निर्मूल करने के लिये तथा कर्मों की निर्जरा हेतु अपेक्षित शक्ति की साधना हेतु किया जाने वाला आत्म–दमन 'तप' है।
8. **त्याग–** पात्र को ज्ञानादि सद्गुण प्रदान करना 'त्याग' है।
9. **आकिंचन्य–** किसी भी वस्तु में ममत्व बुद्धि न रखना 'आकिंचन्य' है।
10. **ब्रह्मचर्य–** त्रुटियों को दूर करने के लिए ज्ञानादि सद्गुणों का अभ्यास करना एवं गुरु की अधीनता स्वीकार करने के लिए ब्रह्म याने गुरुकुल में चर्य याने बसना 'ब्रह्मचर्य' है। संक्षेप में– काम–भोग से विरति और आत्म–रमणता 'ब्रह्मचर्य' है।

प्र.3 क्षमा की साधना के पाँच उपाय लिखिए।

उत्तर– क्षमा की साधना के निम्नलिखित पाँच उपाय हैं :–

1. अपने में क्रोध के निमित्त के होने या न होने का चिन्तन करना।
2. क्रोधवृत्ति के दोषों का विचार करना।
3. बाल–स्वभाव का विचार करना।
4. अपने किए हुए कर्म के परिणाम का विचार करना।
5. क्षमा के गुणों का चिन्तन करना।

प्र.4 मार्दव की सिद्धि का क्या उपाय है?

उत्तर– मार्दव (विनम्रता) की सिद्धि के लिए जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, विज्ञान, श्रुत, लाभ और वीर्य के विषय में अपने को बड़ा या ऊँचा मानकर गर्वित न होना और इन वस्तुओं की विनश्वरता का विचार करके अभिमान के काँटे को निकाल फैंकना आवश्यक है।

सूत्र– अनित्याशरणसंसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वाश्रव–संवर–निर्जरा– लोक–बोधिदुर्लभधर्मस्वाख्या तत्त्वानुचिन्तमनुप्रेक्षा।7।

व्याख्या– अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि–दुर्लभ और धर्म, इन बारह को भली–भाँति समझकर इनका बार–बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षा है।

प्र.1 अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं?

उत्तर– समझे हुए अथवा जाने हुए तत्त्व का चिन्तन, मनन करना अनुप्रेक्षा है।

प्र.2 अनुप्रेक्षा के 12 भेदों को संक्षेप में समझाइए।

उत्तर– 12 अनुप्रेक्षाएँ निम्नलिखित हैं :–

1. **अनित्यानुप्रेक्षा–** किसी भी प्राप्त वस्तु के वियोग से दुःख नहीं हो, इसलिए शरीर, घर–बार और वस्तुओं की अनित्यता एवं अस्थिरता का पुनः पुनः चिन्तन करना 'अनित्यानुप्रेक्षा' है।
2. **अशरणानुप्रेक्षा–** भौतिक वस्तुएँ, घर–परिवार, रुपया–पैसा, कोई भी आधि, व्याधि, उपाधि रूप त्रिविध ताप से पीड़ित आत्मा को शरण प्रदान करने में समर्थ नहीं है, ऐसा चिन्तन करना 'अशरणानुप्रेक्षा' है।

3. **संसारानुप्रेक्षा–** यह चतुर्गतिक संसार दु:खों से भरा है। इस संसार के सभी प्राणी दु:खी हैं, ऐसा चिन्तन 'संसारानुप्रेक्षा' है। इससे संसार के प्रति उदासीनता आती है।
4. **एकत्वानुप्रेक्षा–** ज्ञान–दर्शन संयुक्त मेरी आत्मा शाश्वत व नित्य है, अन्य सभी संयोग अस्थायी हैं, आत्मा अकेला जन्म लेता है और अकेला मृत्यु को प्राप्त होता है। आत्मा अकेला ही स्वकृत कर्मों का फल भोगता है। ऐसा चिन्तन 'एकत्वानुप्रेक्षा' है।
5. **अन्यत्वानुप्रेक्षा–** शरीर, मकान, धन, सम्पत्ति आदि भौतिक वस्तुओं से आत्मा को भिन्न समझना तथा चिन्तन करना कि ये पदार्थ जड़, स्थूल व आदि–अन्त युक्त हैं और मैं चेतन, सूक्ष्म व आदि–अन्त रहित हूँ। यह 'अन्यत्वानुप्रेक्षा' है।
6. **अशुचित्वानुप्रेक्षा–** शरीर से ममत्व हटाने के लिए यह चिन्तन करना कि यह शरीर अशुचि से उत्पन्न, अशुचि से पोषित, अशुचिमय है और अशुचि परम्परा का कारण है, यह चिन्तन 'अशुचित्वानुप्रेक्षा' है।
7. **आश्रवानुप्रेक्षा–** कर्मो के आगमन के साधन आश्रवों तथा उनके अनिष्टकारी एवं दु:खद परिणामों का चिन्तन करना 'आश्रवानुप्रेक्षा' है।
8. **संवरानुप्रेक्षा–** दु:खद आश्रवों के निरोध के उपाय सम्यक्त्व, व्रतादि का चिन्तन करना 'संवरानुप्रेक्षा' है।
9. **निर्जरानुप्रेक्षा–** कर्मों को क्षय करने के उपायों एवं उनके स्वरूप का पुन:–पुन: चिन्तन 'निर्जरानुप्रेक्षा' है।
10. **लोकानुप्रेक्षा–** तत्त्वज्ञान की विशुद्धि के निमित्त विश्व के वास्तविक स्वरूप का चिन्तन करना 'लोकानुप्रेक्षा' है।
11. **बोधि दुर्लभत्वानुप्रेक्षा–** सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र, इस रत्नत्रय रूप बोधि की प्राप्ति जीव को दुर्लभ है, इस प्रकार का चिन्तन करके बोधि प्राप्ति के उपायों का बार–बार विचार करना 'बोधि दुर्लभत्व अनुप्रेक्षा' है।
12. **धर्म अनुप्रेक्षा–** श्रुत–धर्म, चारित्र–धर्म का निश्चय एवं व्यवहार की अपेक्षा चिन्तन करना 'धर्म अनुप्रेक्षा' है।

सूत्र– मार्गाऽच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या: परीषहा: ।8 ।

व्याख्या– रत्नत्रय रूप मोक्षमार्ग से च्युत न होने एवं कर्मों की निर्जरा के लिए आत्म–साधना में आने वाली अनुकूल–प्रतिकूल बाधाओं को समभावपूर्वक सहन करना 'परीषह' है।

प्र.1 परीषहजय क्या है?

उत्तर– परिसह्यते इति परिषह: अर्थात् जो सहे जाएँ, वे परीषह हैं।

आत्म–साधना में जितनी अनुकूल या प्रतिकूल बाधाएँ उपस्थित हों, उन्हें मन में आर्तध्यान अथवा संक्लेश रूप परिणाम किए बिना, समभाव पूर्वक सहन करना परीषहजय है।

सूत्र– क्षुत्पिपासाशीतोष्ण दंशमशकनाग्न्यारति स्त्रीचर्या निषद्या शय्याऽऽक्रोश वध याचनाऽलाभ-रोगतृणस्पर्शमल सत्कार- पुरस्कार प्रज्ञाऽज्ञानाऽदर्शनानि ।9 ।

व्याख्या– क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्नत्व (अल्प वस्त्र अथवा निर्वस्त्र) अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार–पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन, ये 22 परीषह हैं।

सूत्र– **सूक्ष्मसम्परायच्छद्मस्थ वीतरागयोश्चतुर्दश:।10।**

व्याख्या– सूक्ष्म सम्पराय नामक दसवें, उपशान्त मोह नामक ग्यारहवें एवं क्षीण मोह नामक बारहवें गुणस्थान में बाईस में से 14 परीषह सम्भव हैं।

सूत्र– **एकादशजिने।11।**

व्याख्या– जिन भगवान में ग्यारह परीषह संभव हैं।

सूत्र– **बादरसम्पराये सर्वे।12।**

व्याख्या– बादर सम्पराय अर्थात् 1 से 9 तक गुणस्थानों में सभी 22 परीषह सम्भव हैं।

सूत्र– **ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने।13।**

व्याख्या– ज्ञानावरणीय कर्म के निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान, ये दो परीषह होते हैं।

सूत्र– **दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनलाभौ।14।**

व्याख्या– दर्शन मोह के निमित्त से अदर्शन परीषह तथा अन्तराय के निमित्त से अलाभ परीषह होता है।

सूत्र– **चारित्रमोहे नाग्न्यारति स्त्रीनिषद्याक्रोशयाचना सत्कार पुरस्कारा:।15।**

व्याख्या– चारित्र मोह के निमित्त से नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार–पुरस्कार, ये 7 परीषह होते है।

सूत्र– **वेदनीये शेषा:।16।**

व्याख्या– बाईस में से शेष परीषह वेदनीय के निमित्त से होते हैं। अर्थात् क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल और चर्या, ये 11 परीषह वेदनीय के निमित्त से होते हैं।

प्र.1 परीषह कौन–कौनसे हैं? उनके नाम लिखिए।

उत्तर– परीषह 22 होते हैं– 1. क्षुधा, 2. पिपासा, 3. शीत, 4. उष्ण, 5. दंशमशक, 6. नग्नत्व, 7. अरति, 8. निषद्या, 9. चर्या, 10. शय्या, 11. आक्रोश, 12. वध, 13. याचना, 14. स्त्री, 15. रोग, 16. तृणस्पर्श, 17. मल, 18. सत्कार–पुरस्कार, 19. प्रज्ञा, 20. अज्ञान, 21. अलाभ, 22. अदर्शन।

प्र.2 22 परीषह किन–किन कर्मो के उदय से होते हैं?

उत्तर– ज्ञानावरणीय, मोहनीय, अन्तराय और वेदनीय, इन चार कर्मों के निमित्त से 22 परीषह होते हैं।

प्र.3 ज्ञानावरणीय के निमित्त से कौनसे परीषह होते हैं?

उत्तर– ज्ञानावरणीय के निमित्त से प्रज्ञा और अज्ञान, ये दो परीषह होते हैं।

प्र.4 मोहनीय कर्म के निमित्त से कौन–कौनसे परीषह होते हैं?

उत्तर– मोहनीय कर्म के कारण अदर्शन, नग्नत्व, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार–पुरस्कार, ये आठ परीषह होते हैं।

प्र.5 अन्तराय कर्म के कारण कौनसा परीषह होता है?

उत्तर– अन्तराय कर्म के कारण अलाभ परीषह होता है।

प्र.6 वेदनीय कर्म के निमित्त से कौन–कौनसे परीषह होते हैं?

उत्तर– वेदनीय कर्म के निमित्त से क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, वध, रोग, शय्या, तृणस्पर्श और मल, ये ग्यारह परीषह होते हैं।

प्र.7 22 परीषहों में से जिन भगवान में कितने परीषह सम्भव हैं?

उत्तर– जिन भगवान में वेदनीय कर्म के निमित्त से होने वाले ग्यारह परीषह सम्भव हैं। यथा– 1. क्षुधा, 2. पिपासा, 3. शीत, 4. उष्ण, 5. दंशमशक, 6. शय्या, 7. चर्या, 8. वध, 9. तृणस्पर्श, 10. रोग और 11. मल।

प्र.8 सूक्ष्म सम्पराय एवं छद्मस्थ वीतराग में कितने व कौनसे परीषह संभव हैं?

उत्तर– सूक्ष्म सम्पराय एवं छद्मस्थ वीतराग में मोहनीय के निमित्त से होने वाले आठ परीषह को छोड़कर शेष 14 परीषह संभव हैं। यथा– क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, प्रज्ञा, अज्ञान व अलाभ।

प्र.9 बादर सम्पराय में कितने परीषह सम्भव हैं?

उत्तर– तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार बादर सम्पराय अर्थात् पहले से 9वें गुणस्थान तक सभी 22 परीषह सम्भव हैं। किन्तु आगमकारों के मत से पहले, दूसरे व तीसरे गुणस्थान में ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना रूप मोक्ष मार्ग नहीं होने से परीषह नहीं माने जाते हैं। चौथे गुणस्थान में एक दर्शन परीषह होता है। पाँचवें गुणस्थान में प्रतिमाधारी श्रावक की अपेक्षा 22 परीषह सम्भव है। छठे, सातवें गुणस्थान में भी 22 परीषह हो सकते हैं। आठवें गुणस्थान में दर्शन परीषह को छोड़कर 21 परीषह सम्भव हैं।

सूत्र- एकादयो भाज्यायुगपदैकोनविंशतेः।17।

व्याख्या– एक आत्मा में एक से 19 परीषह विकल्प से सम्भव हैं।

प्र.1 एक आत्मा में एक साथ अधिकतम कितने परीषह सम्भव हैं और क्यों?

उत्तर– एक आत्मा में एक साथ अधिकतम 19 परीषह सम्भव हैं, क्योंकि 22 परीषहों में शीत और उष्ण परस्पर विरोधी है, अतः दोनों में से एक सम्भव हैं। इसी प्रकार शय्या, चर्या और निषद्या इन तीनों में से एक समय में एक सम्भव है। अतः इन पाँच में से एक समय में दो सम्भव एवं तीन असम्भव मानकर एक आत्मा में एक समय में अधिकतम 19 परीषह सम्भव माने गये हैं।

सूत्र- सामायिक-छेदोपस्थाप्य-परिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसंपराय- यथाख्यातानि चारित्रम्।18।

व्याख्या– सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात, ये पाँच चारित्र हैं।

प्र.1 चारित्र किसे कहते हैं? चारित्र के भेद लिखिए।

उत्तर– संसार बढ़ाने वाली क्रियाओं का त्याग करके मोक्ष–प्राप्ति के लिए शुद्ध आत्मिक दशा में स्थिर रहने का प्रयत्न करना तथा इसके लिये महाव्रत, समिति–गुप्ति आदि का पालन करना 'चारित्र' है। चारित्र के पाँच भेद हैं–

1. **सामायिक चारित्र–** सावद्य–योगों के सर्वथा त्याग को सामायिक चारित्र कहते हैं।
2. **छेदोपस्थापन चारित्र–** प्रथम दीक्षा के पश्चात् विशिष्ट श्रुत का अभ्यास कर लेने पर विशेष शुद्धि के लिए जो पुनः दीक्षा (बड़ी दीक्षा) ग्रहण की जाती है एवं प्रथम दीक्षा में दोषापत्ति आने से उसका छेद करके फिर नये सिरे से जो दीक्षा दी जाती हैं, उसे छेदोपस्थापन चारित्र कहते हैं।
3. **परिहार विशुद्ध चारित्र–** जिसमें सामायिक चारित्र के साथ विशिष्ट प्रकार के तप प्रधान आचार का पालन किया जाता है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

4. **सूक्ष्म संपराय चारित्र–** जिस चारित्र में क्रोधादि कषाय का उदय नहीं होता है तथा लोभ का अंश अतिसूक्ष्म रूप में रहता है, वह सूक्ष्म सम्पराय चारित्र कहा जाता है।
5. **यथाख्यात चारित्र–** ऐसा चारित्र जिसमें कषाय का बिल्कुल भी उदय नहीं होता है, आत्मा के शुद्ध–निर्मल परिणाम होते हैं, उसे यथाख्यात या वीतराग चारित्र कहते हैं।

तप

सूत्र– अनशनावमौदार्य-वृत्तिपरिसंख्यान-रसपरित्याग-विविक्त शय्यासन-कायक्लेशा बाह्यं तपः।19।

व्याख्या– अनशन, अवमौदर्य, वृत्ति परिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन और कायक्लेश, ये बाह्य तप हैं।

सूत्र– प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग- ध्यानान्युत्तरम्।20।

व्याख्या– प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान, ये छः आभ्यन्तर तप हैं।

प्र.1 तप किसे कहते हैं? तप के मुख्य भेद कौन–कौनसे हैं।

उत्तर– वासनाओं को क्षीण करके आत्म–शुद्धि एवं कर्मक्षय के लिए शरीर, मन और इन्द्रियों को जिन उपायों से तपाया जाता है, उन्हें तप कहते हैं अथवा जिनसे आत्मा तत्काल पवित्र होती है, उन्हें भी तप कहते हैं। तप के मुख्य दो भेद हैं–

1. **बाह्य तप–** जिस तप में शारीरिक क्रिया की प्रधानता हो तथा जो दूसरों को दिखाई दे, वह बाह्य तप कहलाता है।
2. **आभ्यन्तर तप–** जिसमें मानसिक क्रिया या भावों की प्रधानता हो तथा जो बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा से रहित होने से दूसरों को दिखाई न भी दे, वह आभ्यन्तर तप कहलाता है।

प्र.2 बाह्य तप के कितने भेद हैं? समझाइए।

उत्तर– बाह्य तप के 6 भेद हैं–

1. **अनशन तप–** आत्म–शुद्धि के निमित्त किसी निश्चित् अवधि के लिए सभी प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप है।
2. **अवमौदर्य–** जितनी भूख हो उससे कम आहार करना अवमौदर्य या ऊनोदरी तप है।
3. **वृत्ति परिसंख्यान–** आत्मशुद्धिहित विविध वस्तुओं की लालसा कम करना वृत्ति परिसंख्यान तप है।
4. **रस परित्याग–** कर्मक्षय एवं आत्मशुद्धि हेतु घी, दूध, दही आदि विकारवर्धक रसों का त्याग करना रस परित्याग तप है।
5. **विविक्त शय्यासन–** साधना हेतु बाधा रहित एकान्त स्थान का सेवन करना विविक्त शय्यासन तप है।
6. **कायक्लेश–** सर्दी, गर्मी या विविध आसनादि द्वारा शरीर को कष्ट देना कायक्लेश तप है।

प्र.3 आभ्यन्तर तप के कितने भेद हैं? समझाइए।

उत्तर– आभ्यन्तर तप के 6 भेद हैं–

1. **प्रायश्चित्त–** धारण किए हुए व्रत में प्रमादजनित दोषों के शोधन की साधना प्रायश्चित्त तप है।
2. **विनय–** ज्ञानादि सद्गुणों में आदरभाव विनय तप है।

3. **वैयावृत्त्य–** निःस्वार्थ एवं अग्लानभाव से गुरु, ज्येष्ठ साधु, वृद्ध, रोगी आदि की सेवा करना, परिचर्या करना वैयावृत्त्य तप है।
4. **स्वाध्याय–** ज्ञान–प्राप्ति के लिए विविध प्रकार का अध्ययन करना स्वाध्याय तप है।
5. **व्युत्सर्ग–** विवेक पूर्वक अहंता एवं ममता का त्याग करना व्युत्सर्ग तप है।
6. **ध्यान–** धर्मध्यान और शुक्लध्यान में चित्त की एकाग्रता होना ध्यान तप है।

आभ्यन्तर तपों के भेद

सूत्र– नवचतुर्दशपंचद्विभेदं यथाक्रमं प्राग्ध्यानात्।21।

व्याख्या– ध्यान के पूर्ववर्ती आभ्यन्तर तपों के क्रमशः नौ, चार, दस, पाँच और दो भेद हैं। अर्थात् प्रायश्चित्त के नौ, विनय के चार, वैयावृत्त्य के दस, स्वाध्याय के पाँच तथा व्युत्सर्ग के दो भेद हैं।

प्रायश्चित्त के भेद

सूत्र– आलोचना-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्गतपश्छेद परिहारोपस्थापनानि।22।

व्याख्या– आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापन, ये प्रायश्चित्त के नो भेद हैं।

सूत्र– ज्ञानदर्शन-चारित्रोपचाराः।23।

व्याख्या– ज्ञान, दर्शन, चारित्र और उपचार, ये विनय तप के चार भेद हैं।

सूत्र– आचार्योपाध्यायतपस्विशैक्षक-ग्लान-गणकुलसंघ-साधु- समनोज्ञानाम्।24।

व्याख्या– आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष (नवदीक्षित), ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और समनोज्ञ– यह दस प्रकार का वैयावृत्त्य तप है।

स्वाध्याय के भेद

सूत्र– वाचनाप्रच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।25।

व्याख्या– वाचना, प्रच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश, ये स्वाध्याय के पाँच भेद हैं।

व्युत्सर्ग के भेद

सूत्र– बाह्याभ्यन्तरोपध्योः।26।

व्याख्या– बाह्य और आभ्यन्तर उपधि का त्याग– ये व्युत्सर्ग के दो प्रकार हैं।

प्र.1 प्रायश्चित्त के 9 भेदों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर– प्रायश्चित्त के 9 भेद निम्नानुसार हैं–

1. **आलोचना–** गुरु के समक्ष शुद्ध भाव से अपनी भूल प्रकट करना 'आलोचना प्रायश्चित्त' है।
2. **प्रतिक्रमण–** भूल का पश्चात्ताप कर उससे निवृत्त होना और आगे भूल न हो इसलिए सावधान रहना 'प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त' है।

3. **तदुभय–** आलोचना एवं प्रतिक्रमण साथ–साथ करना 'तदुभय प्रायश्चित्त' है।
4. **विवेक–** अनजान में हुई भूल का जानकारी होने पर तत्काल सुधार करना 'विवेक प्रायश्चित्त' है।
5. **व्युत्सर्ग–** एकाग्रता पूर्वक शरीर और वचन के व्यापार को छोड़ना 'व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त' है।
6. **छेद–** दोष के अनुसार प्रव्रज्या कम करना 'छेद प्रायश्चित्त' है।
7. **परिहार–** एक निश्चित् अवधि के लिए दोषी व्यक्ति से दूर रहना 'परिहार प्रायश्चित्त' है।
8. **तप–** दोष शोधन के लिए बाह्य तप करना 'तप प्रायश्चित्त' है।
9. **उपस्थापन–** अहिंसा आदि महाव्रतों के भंग होने पर पुनः उन महाव्रतों का आरोपण करना 'उपस्थापन प्रायश्चित्त' है।

प्र.2 विनय के चार भेद कौन–कौनसे हैं?

उत्तर– विनय के निम्नलिखित चार भेद हैं–

1. **ज्ञान विनय–** ज्ञान प्राप्त करना, उसका अभ्यास जारी रखना और ज्ञान को भूलना नहीं ज्ञान विनय है।
2. **दर्शन विनय–** तत्त्वार्थ की यथार्थ प्रतीतिस्वरूप सम्यग्दर्शन से विचलित न होना, दर्शनविनय है।
3. **चारित्र विनय–** सामायिक आदि चारित्र में चित्त का समाधान, चारित्र विनय है।
4. **उपचार विनय–** अपने से गुणों में श्रेष्ठ व्यक्ति प्रति अनेक प्रकार से योग्य व्यवहार करना उपचार विनय है।

प्र.3 दस प्रकार के सेवायोग्य पात्रों का नामोल्लेख कीजिए।

उत्तर– दस प्रकार के सेवायोग्य पात्र निम्नलिखित हैं–

1. आचार्य	2. उपाध्याय	3. तपस्वी
4. शैक्ष (नवदीक्षित)	5. ग्लान (रोगी)	6. गण
7. कुल	8. संघ	9. साधु
10.समनोज्ञ		

प्र.4 गण और कुल में क्या अन्तर है?

उत्तर– विभिन्न आचार्यों के शिष्य साधु यदि परस्पर सहाध्यायी होने से समान वाचना वाले हो तो उनका समुदाय 'गण' कहलाता है, जबकि एक ही दीक्षाचार्य का परिवार 'कुल' कहलाता है।

प्र.5 शैक्ष से क्या तात्पर्य हैं?

उत्तर– नवदीक्षित अध्ययनशील साधु को 'शैक्ष' कहते हैं।

प्र.6 स्वाध्याय के पाँच भेदों का संक्षेप में विवेचन कीजिए।

उत्तर– स्वाध्याय के पाँच भेद निम्नलिखित हैं–

1. **वाचना–** आगम–शास्त्रों के मूल अथवा अनुवाद को पढ़ना 'वाचना' है अथवा गुरुजनों से मूल अथवा अर्थ का पाठ लेना 'वाचना' है।
2. **पृच्छना–** शंका दूर करने या विशेष निर्णय हेतु पूछना 'पृच्छना' है।
3. **अनुप्रेक्षा–** शब्द, पाठ या उसके अर्थ का पुनः–पुनः चिन्तन करना 'अनुप्रेक्षा' है।
4. **आम्नाय–** सीखे हुए ज्ञान का पुनरावर्तन करना, बार–बार दोहराना 'आम्नाय' है।

5. **धर्मोपदेश–** जानी हुई वस्तु का रहस्य समझाना अथवा धर्म का कथन करना 'धर्मोपदेश' है।

प्र.7 व्युत्सर्ग के भेदों को समझाइए।

उत्तर– व्युत्सर्ग के दो भेद होते हैं–

1. **बाह्योपधि व्युत्सर्ग–** धन, धान्य, मकान, क्षेत्र आदि बाह्य पदार्थों की ममता का त्याग करना 'बाह्योपधि व्युत्सर्ग' है।
2. **आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग–** शरीर की ममता का त्याग करना एवं काषायिक विकारों की तन्मयता का त्याग करना 'आभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग' है।

ध्यान

सूत्र– उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्ता निरोधोध्यानम्।27।

व्याख्या– उत्तम संहनन वाले का एक विषय में अन्तःकरण की वृत्ति का स्थापन 'ध्यान' है।

सूत्र– आमुहूर्त्तात्।28।

व्याख्या– वह ध्यान अन्तर्मुहूर्त्त पर्यन्त रहता है।

प्र.1 ध्यान का अधिकारी कौन है?

उत्तर– ध्यान का अधिकारी उत्तम संहनन वाला व्यक्ति है। यहाँ उत्तम संहनन से तात्पर्य वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच व नाराच संहनन से है।

प्र.2 ध्यान का स्वरूप क्या है?

उत्तर– ज्ञानधारा को अनेक विषयगामिनी न बनने देकर किसी एक इष्ट विषय में स्थिर रखना ही ध्यान है। ध्यान का यह स्वरूप छद्मस्थों में ही संभव है।

प्र.3 ध्यान का काल परिमाण कितना है?

उत्तर– ध्यान का अधिकतम काल परिमाण अन्तर्मुहूर्त्त है।

ध्यान के भेद

सूत्र– आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि।29।

व्याख्या– आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ये ध्यान के चार प्रकार हैं।

सूत्र– परे मोक्षहेतू।30।

व्याख्या– चार प्रकार के ध्यानों में अन्तिम दो अर्थात् धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं।

आर्तध्यान

सूत्र– आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः।31।

व्याख्या– अप्रिय वस्तु के योग में उसके वियोग के लिए सतत चिन्ता करना, पहला आर्तध्यान है।

सूत्र– वेदनायाश्च।32।

व्याख्या– शारीरिक या मानसिक कष्ट आने पर उसके निवारणार्थ व्याकुलता पूर्वक चिन्ता करना दूसरा आर्तध्यान है।

सूत्र- विपरीतं मनोज्ञानाम्।33।

व्याख्या– प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए सतत चिन्ता करना, तीसरा आर्तध्यान है।

सूत्र- निदानं च।34।

व्याख्या– अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए संकल्प करना या सतत चिन्ता करना, चौथा 'आर्तध्यान' है।

सूत्र- तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।35।

व्याख्या– वह आर्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत गुणस्थानों में होता है। अर्थात् आर्तध्यान के अधिकारी अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत जीव हैं।

प्र.1 आर्तध्यान किसे कहते हैं? उसके भेदों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– अर्ति का अर्थ है पीड़ा या दुःख। अतः पीड़ा या दुःख से उत्पन्न होने वाला ध्यान आर्तध्यान है। इसके चार भेद हैं–

1. अनिष्ट संयोग आर्तध्यान
2. इष्टवियोग आर्तध्यान
3. रोग चिन्ता आर्तध्यान
4. निदान आर्तध्यान

प्र.2 दुःख उत्पत्ति के प्रमुख कारण क्या हैं?

उत्तर– दुःख उत्पत्ति के निम्नलिखित चार कारण हैं–

1. अनिष्ट वस्तु संयोग
2. इष्ट वस्तु का वियोग
3. प्रतिकूल वेदना
4. भोग की लालसा

प्र.3 आर्तध्यान के अधिकारी कौन हैं?

उत्तर– पहले से छठे गुणस्थानवर्ती जीवों के आर्तध्यान सम्भव हैं। आगे के गुणस्थानों में नहीं।

रौद्रध्यान व उसके अधिकारी

सूत्र- हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः।36।

व्याख्या– हिंसा, असत्य, चोरी और विषय–संरक्षण के लिए सतत चिन्ता करना, रौद्रध्यान है, जो अविरत और देशविरत में संभव है।

प्र.1 रौद्रध्यान का स्वरूप व उसके भेद लिखिए।

उत्तर– जिसका चित्त क्रूर व कठोर होता है, वह रुद्र कहलाता है और ऐसी आत्मा द्वारा किया जाने वाला ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है। रौद्रध्यान के चार भेद हैं–

1. हिंसानुबन्धी

2. अनृतानुबन्धी (मृषानुबन्धी)
3. स्तेयानुबन्धी (चोर्यानुबन्धी)
4. विषयसंरक्षणानुबन्धी

प्र.2 रौद्र ध्यान के अधिकारी कौन हैं?

उत्तर– रौद्र ध्यान के अधिकारी पहले पाँच गुणस्थान वाले होते हैं।

धर्म ध्यान

सूत्र- आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य।37।

व्याख्या– आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान की विचारणा के लिए मनोवृत्ति को एकाग्र करना, धर्मध्यान है, जो अप्रमत्तसंयत में संभव हैं।

सूत्र- उपशान्तक्षीणकषाययोश्च।38।

व्याख्या– वह धर्म ध्यान उपशान्तमोह और क्षीणमोह गुणस्थानों में भी संभव है।

प्र.1 धर्मध्यान के भेदों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर– धर्मध्यान के निम्नलिखित चार भेद हैं–

1. **आज्ञाविचय–** वीतराग तथा सर्वज्ञ की आज्ञा में मन को एकाग्र करना, आज्ञाविचय धर्मध्यान है।
2. **अपायविचय–** दोषों के स्वरूप एवं उनसे छुटकारा पाने के उपायों का चिन्तन करना, अपायविचय धर्मध्यान है।
3. **विपाक विचय–** कर्म विपाकों के विचारार्थ मनोयोग लगाना, विपाक विचय धर्मध्यान है।
4. **संस्थान विचय–** लोकस्वरूप का विचार करने में मनोयोग लगाना, संस्थान विचय धर्मध्यान है।

प्र.2 धर्म ध्यान के अधिकारी कौन हैं?

उत्तर– सातवें से बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव धर्म ध्यान के अधिकारी हैं। यह तत्त्वार्थ सूत्र की मान्यता है। आगम की मान्यता के अनुसार तो धर्मध्यान चौथे से सातवें गुणस्थान तक के जीवों में ही सम्भव होता है, अन्य में नहीं।

शुक्ल ध्यान

सूत्र- शुक्लेचाद्ये पूर्वविदः।39।

व्याख्या– पहले दो शुक्ल ध्यान ग्यारहवें एवं बारहवें गुणस्थानवर्ती पूर्वधर के सम्भव हैं। आगमानुसार तो शुक्लध्यान आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक होता है।

सूत्र- परे केवलिनः।40।

व्याख्या– अन्तिम दो शुक्ल ध्यान केवली को होते हैं।

सूत्र- पृथक्त्वैकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति-व्युपरत क्रियाऽनिवृतीनि।41।

व्याख्या– पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती और व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति – ये चार शुक्ल ध्यान हैं।

सूत्र- तत्र्येककाययोगायोगानाम्।42।

व्याख्या– वह शुक्ल ध्यान क्रमशः तीन योग वाले, किसी एक योग वाले, काय योग वाले और योग रहित को होता है। अर्थात् योग की दृष्टि से तीनों योग वाले को पहला पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान सम्भव है, तीन में से किसी एक योग वाले को एकत्व वितर्क तथा काय योग वाले को सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती एवं अयोगी को व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान होता है।

सूत्र– एकाश्रये सवितर्के पूर्वे।43।

व्याख्या– शुक्ल ध्यान के चार भेदों में से पहले के दो अर्थात् पृथक्त्व एवं एकत्ववितर्क शुक्ल ध्यान एकाश्रित एवं सवितर्क होते हैं।

सूत्र– अविचारं द्वितीयम्।44।

व्याख्या– शुक्ल ध्यान के प्रथम दो भेदों में से पहला पृथक्त्व वितर्क सविचार है, जबकि दूसरा एकत्व वितर्क अविचार है।

सूत्र– वितर्कः श्रुतम्।।45।।

व्याख्या– यहाँ वितर्क से तात्पर्य श्रुत है।

सूत्र– विचारोऽर्थव्यंजन योगसंक्रान्तिः।46।

व्याख्या– यहाँ विचार से तात्पर्य अर्थ, व्यंजन एवं योग की संक्रान्ति है।

प्र.1 पृथक्त्व वितर्क एवं एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान में क्या अन्तर हैं?

उत्तर– दोनों ध्यानों में वितर्क या श्रुतज्ञान की समानता होते हुए भी निम्न अन्तर हैं–

1. पहले में पृथक्त्व या भेद है, जबकि दूसरे में एकत्व या अभेद है।
2. पहले में विचार संक्रम है, जबकि दूसरे में विचार नहीं है।

प्र.2 सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान का स्वरूप क्या है व उसका अधिकारी कौन है?

उत्तर– जब सयोगी केवली भगवान योग निरोध के क्रम में सूक्ष्म शरीर योग का आश्रय लेकर शेष योगों को रोक देते हैं, तब वह सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाती शुक्ल ध्यान कहलाता है। इससे पतन संभव नहीं है। यह ध्यान काय योग वाले सयोगी केवली को होता है।

प्र.3 व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान क्या है? व इसके अधिकारी कौन हैं?

उत्तर– जब शरीर की श्वास उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं, आत्मप्रदेश सर्वथा निष्प्रकम्प हो जाते हैं, तब वह व्युपरत क्रिया अनिवृत्ति शुक्ल ध्यान कहलाता है। इसके अधिकारी अयोगी केवली हैं।

सूत्र– सम्यग्दृष्टि–श्रावक–विरतानन्तवियोजक– दर्शनमोह–
क्षपकोपशमकोपशान्तमोह–क्षपक–क्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुण निर्जराः।47।

व्याख्या– सम्यग्दृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धिवियोजक, दर्शनमोहक्षपक, उपशमक, उपशान्तमोह, क्षपक, क्षीणमोह और जिन, ये दस क्रमशः असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करते हैं।

प्र.1 सूत्रोक्त दस अवस्थाओं का संक्षिप्त स्वरूप बतलाइए।

उत्तर– 1. **सम्यग्दृष्टि–** सम्यग्दर्शन अर्थात् देव–गुरु–धर्म विषयक यथार्थ श्रद्धान प्राप्त जीव।

2. **श्रावक–** अणुव्रती साधक। इनमें अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम से आंशिक विरति उत्पन्न हो जाती है।

3. **विरत—** सर्वविरत साधु। प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के क्षयोपशम से अथवा तीन चौकड़ी कषाय के अनुदय से सर्वविरति प्रकट हो जाती है।
4. **अनन्त वियोजक—** अनन्तानुबन्धी क्रोध–मान–माया–लोभ के विसंयोजना (अस्थायी क्षय) में संलग्न साधक।
5. **दर्शनमोह क्षपक—** दर्शन मोहनीय के क्षय में संलग्न साधक।
6. **उपशमक—** मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों के उपशम करने में संलग्न साधु।
7. **उपशान्तमोह—** ऐसा साधक जिसका मोहनीय कर्म उपशान्त हो चुका है।
8. **क्षपक—** मोहनीय कर्म की शेष प्रकृतियों को क्षय करने में संलग्न साधक।
9. **क्षीणमोह—** मोहनीय कर्म जिस साधक का पूर्णतः क्षय हो चुका है।
10. **जिन—** सर्वज्ञ केवली भगवान। अर्थात् तेरहवें–चौदहवें गुणस्थानवर्ती केवली।

निर्ग्रन्थ के भेद

सूत्र- पुलाक बकुशकुशील निर्ग्रन्थ स्नातका निर्ग्रन्थाः ।48।

व्याख्या– पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक, ये निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार हैं।

प्र.1 निर्ग्रन्थ किसे कहते हैं? पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों के लक्षण लिखिए।

उत्तर– जिसमें रागद्वेष की गाँठ न हो, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है तथा भविष्य में ऐसी स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील साधक भी निर्ग्रन्थ कहलाता है। निर्ग्रन्थ के पाँच प्रकार हैं–

1. **पुलाक–** मूलगुण तथा उत्तरगुण में परिपूर्णता प्राप्त न करते हुए भी वीतराग–प्रणीत आगम से कभी विचलित नहीं होने वाला पुलाक लब्धि से सम्पन्न निर्ग्रन्थ 'पुलाक निर्ग्रन्थ' कहलाता है।
2. **बकुश–** शरीर व उपकरणों के संस्कारों का अनुकरण करने वाला, सिद्धि तथा कीर्ति का अभिलाषी, अविविक्त, परिवारवाला, छेद पर्याय की हानि तथा शबल दोषों से युक्त निर्ग्रन्थ 'बकुश निर्ग्रन्थ' कहलाता है।
3. **कुशील–** इसके दो प्रकार हैं – (1) **प्रतिसेवना कुशील–** इन्द्रियों के वशवर्ती होने से उत्तर गुणों की विराधना मूलक प्रवृत्ति करने वाला 'प्रतिसेवना कुशील निर्ग्रन्थ' कहलाता है। (2) **कषाय कुशील–** कभी भी तीव्र कषाय के वश न होकर कदाचित् मन्द कषाय के वशीभूत हो जाने वाला 'कषाय कुशील निर्ग्रन्थ' कहालाता है।
4. **निर्ग्रन्थ–** सर्वज्ञता न होने पर भी जिसमें राग–द्वेष का सर्वथा अभाव हो और अन्तर्मुहूर्त के बाद सर्वज्ञता प्रकट होना सम्भव हो, उसे निर्ग्रन्थ कहते हैं।
5. **स्नातक–** जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो, उसे स्नातक निर्ग्रन्थ कहते हैं।

सूत्र- संयमश्रुत प्रतिसेवना-तीर्थलिंग- लेश्योपपातस्थानविकल्पतः साध्याः ।49।

व्याख्या– संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपात और स्थान के भेद से इन निर्ग्रन्थों की विशेषताएँ सिद्ध होती हैं।

प्र.1 पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थों पर संयम, श्रुत, प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपात और स्थान द्वारों को घटित कीजिए।

उत्तर– **1. संयम–**

(1) पुलाक, बकुश और प्रतिसेवना कुशील में सामायिक एवं छेदोपस्थापनीय संयम पाये जाते हैं।

(2) कषाय कुशील में यथाख्यात के सिवाय 4 संयम होते हैं।

(3) निर्ग्रन्थ एवं स्नातक में एक यथाख्यात संयम होता है।

2. श्रुत–

(1) पुलाक का श्रुत– उत्कृष्ट नौ पूर्व का होता है। बकुश और कुशील का उत्कृष्ट श्रुत पूर्ण दशपूर्व होता है।

(2) कषाय कुशील एवं निर्ग्रन्थ का श्रुत 14 पूर्व होता है।

(3) स्नातक सर्वज्ञ होने से श्रुत से परे होता है।

(4) पुलाक का जघन्य श्रुत नवमें पूर्व की तीसरी आचार वस्तु तथा बकुश, कुशील एवं निर्ग्रन्थ का अष्ट प्रवचन माता होता है।

3. प्रतिसेवना–

(1) पुलाक मूलव्रतों तथा उत्तर गुणों में से किसी का भी खण्डन कर सकता है।

(2) बकुश उत्तरगुणों का विराधक होता है।

(3) प्रतिसेवना कुशील मूल गुणों तथा उत्तरगुणों की विराधना करता है।

(4) कषाय कुशील, निर्ग्रन्थ एवं स्नातक विराधना नहीं करते हैं।

4. तीर्थ– पाँचों प्रकार के निर्ग्रन्थ, तीर्थकरों के शासन में होते हैं।

5. लिंग–

(1) पाँचों निर्ग्रन्थों में चारित्रगुण–भावलिंग होता है।

(2) द्रव्य लिंग होता भी और नहीं भी होता है।

6. लेश्या–

(1) पुलाक में तेजो, पद्म एवं शुक्ल, ये तीन लेश्या पाई जाती हैं।

(2) बकुश व प्रतिसेवना कुशील में भी तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं।

(3) कषाय कुशील में छहों तथा परिहार विशुद्धि चारित्र में तेजो आदि 3 लेश्या तथा सूक्ष्म संपराय चारित्र में 1 शुक्ल लेश्या होती है।

(4) स्नातक एवं निर्ग्रन्थ में एक शुक्ल लेश्या होती है।

7. उपपात–

(1) पुलाक आदि चार निर्ग्रन्थों का जघन्य उपपात सौधर्मकल्प में पल्योपम पृथक्त्व स्थिति वाले देवों में।

(2) पुलाक उत्कृष्ट उपपात– सहस्रार कल्प (आठवाँ देवलोक) में (18 सागरोपम)।

(3) बकुश और प्रतिसेवना कुशील का उत्कृष्ट उपपात– आरण और अच्युत कल्प (ग्यारहवाँ, बारहवाँ देवलोक) (22 सागरोपम)।

(4) कषायकुशील व निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट उपपात–सर्वार्थ सिद्ध विमान में।

(5) स्नातक का निर्वाण होता है। उपपात नहीं।

8. संयम–स्थान–

सबसे जघन्य स्थान पुलाक और कषाय कुशील के हैं। ये दोनों असंख्यात संयम स्थानों तक साथ बढ़ते हैं उसके बाद पुलाक रुक जाता है, फिर कषाय कुशील असंख्यात संयम स्थानों तक बढ़ता है। फिर असंख्यात संयम स्थानों तक कषाय कुशील, प्रतिसेवना कुशील और बकुश बढ़ते हैं। उसके बाद बकुश रुक जाता है। तत्पश्चात् असंख्यात् स्थान तक चढ़कर प्रतिसेवना कुशील रुक जाता है, फिर असंख्यात स्थान तक चढ़कर कषाय कुशील रुक जाता है।

इसके बाद योग निमित्तक संयम स्थान आते हैं, जिन्हें निर्ग्रन्थ प्राप्त करता है और वह भी असंख्यात स्थान बढ़कर रुक जाता है।

उसके बाद एकमात्र अन्तिम सर्वोपरि, विशुद्ध व स्थिर संयम आता है, जिसका सेवन कर स्नातक निर्वाण (मोक्ष) पाता है।

अध्याय-10 : मोक्ष

कैवल्य उत्पत्ति के हेतु

सूत्र- मोह क्षयाज्ज्ञान दर्शनावरणान्तराय क्षयाच्च केवलम्।।

व्याख्या– प्रस्तुत सूत्र में कैवल्य प्राप्ति की प्रक्रिया का निरुपण करते हुए कहा गया है– मोहनीय कर्म के क्षय होने के पश्चात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म के क्षय से कैवल्य की प्राप्ति होती है।

प्र.1 कैवल्य से क्या तात्पर्य है?

उत्तर– कैवल्य से तात्पर्य केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन है।

प्र.2 केवल से क्या तात्पर्य हैं?

उत्तर– जो अकेला हो, निरालम्ब हो, जिसे सहायता की अपेक्षा न हो, उसे केवल कहते हैं।

प्र.3 केवल उपयोग का आविर्भाव कब होता है?

उत्तर– प्रतिबन्धक कर्मों के नाश होने पर सहज चेतना निरावरण होती है, जिससे केवल उपयोग का आविर्भाव होता है।

प्र.4 केवल उपयोग के प्रतिबन्धक कर्मों के क्षय की प्रक्रिया क्या है?

उत्तर– केवल उपयोग के प्रतिबन्धक चार कर्मों में से सबसे पहले मोह का क्षय होता है, तदनन्तर ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय का एक साथ नाश होता है। इन चारों कर्मों के नाश से कैवल्य दशा प्रकट होती है।

कर्म के आत्यन्तिक क्षय के हेतु

सूत्र- बन्ध हेत्वभाव निर्जराभ्याम्।2।

व्याख्या– बन्ध हेतुओं के अभाव एवं निर्जरा से कर्मों का आत्यन्तिक क्षय होता है।

प्र.1 कर्मों के आत्यन्तिक क्षय का क्या अभिप्राय है?

उत्तर– नवीन कर्मों के बाँधने की योग्यता का अभाव एवं पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही कर्मों का आत्यन्तिक क्षय है।

प्र. कर्मों के आत्यन्तिक क्षय के हेतु क्या हैं?

उत्तर– कर्मों के आत्यन्तिक क्षय के हेतु दो हैं– (1) बन्ध हेतुओं का अभाव (2) निर्जरा।

मोक्ष स्वरुप

सूत्र- कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः।3।

व्याख्या– सम्पूर्ण कर्मों का क्षय ही मोक्ष है।

प्र.1 मोक्ष किसे कहते हैं?

उत्तर– मोहनीय आदि चार घाती कर्मों के क्षय से कैवल्य दशा प्रकट होती है और जब सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है, उस अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष प्राप्ति के अन्य कारण

सूत्र– **औपशमिकादि भव्यत्वाभावाच्चान्यत्र केवल सम्यक्त्वज्ञानदर्शन सिद्धत्वेभ्यः।4।**

व्याख्या– क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और सिद्धत्व के अतिरिक्त औपशमिक आदि भावों तथा भव्यत्व के अभाव से मोक्ष प्रकट होता है।

प्र.1 भाव कितने होते हैं?

उत्तर– भाव पाँच होते हैं– (1) क्षायिक भाव, (2) औपशमिक भाव, (3) क्षायोपशमिक भाव, (4) औदयिक भाव, (5) पारिमाणिक भाव।

प्र.2 पाँच भावों में से मोक्ष–प्राप्ति के पूर्व कितने भाव पूर्ण नष्ट होते हैं?

उत्तर– मोक्ष प्राप्ति के पूर्व औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं औदयिक भाव पूर्ण नष्ट हो जाते हैं।

प्र.3 मोक्ष अवस्था में अथवा सिद्ध दशा में कौन–कौनसे भाव विद्यमान रहते हैं?

उत्तर– मोक्ष दशा में क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक ज्ञान, क्षायिक दर्शन और सिद्धत्व भाव पाये जाते है।

प्र.4 सिद्धावस्था में कौनसे पारिणामिक भाव का अभाव होता है?

उत्तर– सिद्धावस्था में भव्यत्व पारिणामिक भाव का अभाव होता है। क्योंकि भवों का अन्त करने की योग्यता होना भव्यत्व भाव है तथा सिद्धों ने सभी भवों का अन्त कर दिया है।

प्र.5 सिद्धावस्था में कौनसे पारिणामिक भाव रहते हैं?

उत्तर– सिद्धावस्था में जीवत्व एवं अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव विद्यमान रहते हैं।

सूत्र– **तदनन्तरमूर्ध्वगच्छत्यालोकान्तात्।5।**

व्याख्या– तदनन्तर अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने पर मुक्त जीव लोकान्त तक उर्ध्व गमन करता है।

प्र.1 मुक्त जीव किस दिशा में गमन करता है?

उत्तर– मुक्त जीव उर्ध्व दिशा में गमन करता है।

प्र.2 सम्पूर्ण कर्मों एवं तदाश्रित भावों के नाश होने पर कौनसे कार्य होते हैं?

उत्तर– सम्पूर्ण कर्मों एवं तदाश्रित भावों के नाश से एक साथ, एक समय में तीन कार्य होते हैं– (1) शरीर वियोग, (2) सिध्यमान गति, (3) लोकान्त प्राप्ति।

सिध्यमान गति के हेतु

सूत्र– **पूर्व प्रयोगादसंगत्वाद्बन्ध–छेदात्तथागतिपरिणामाच्च– तद्गतिः।6।**

व्याख्या– पूर्व प्रयोग, संग के अभाव, बन्धन के टूटने और वैसी गति के परिणाम से, मुक्त जीव उर्ध्वगमन करता है।

प्र.1 जीव उर्ध्वगमन क्यों करता है?

उत्तर– जीव स्वभावतः उर्ध्वगतिशील होने से मुक्त होने पर उर्ध्वगमन करता है।

प्र.2 मुक्त जीव लोकान्त तक ही गति क्यों करता है?

उत्तर– मुक्त जीव लोकान्त तक ही गति इसलिये करता है क्योंकि धर्मास्तिकाय लोकान्त तक ही है, अलोक में नहीं है। धर्मास्तिकाय के बिना जीव की गति सम्भव नहीं होती हैं।

प्र.3 सिध्यमान गति के क्या–क्या हेतु हैं?

उत्तर– सिध्यमान गति के निम्न हेतु हैं– (1) पूर्व प्रयोग, (2) कर्मों के संग का अभाव, (3) कर्मों के बन्धन का छेदन, (4) उर्ध्वगमन का स्वभाव।

प्र.4 पूर्व प्रयोग से क्या तात्पर्य है?

उत्तर– पूर्व बद्ध कर्मों के नष्ट हो जाने पर उससे प्राप्त आवेग पूर्व प्रयोग है।

सिद्धों की विशेषता द्योतक तत्त्व

सूत्र– **क्षेत्रकालगति लिंग तीर्थचारित्र प्रत्येक बुद्ध बोधित ज्ञानावगाहनान्तर संख्याल्पबहुत्वतः साध्याः।7।**

व्याख्या– क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येक बुद्ध–बुद्धबोधित ज्ञान, अवगाहना, अन्तर, संख्या और अल्पबहुत्व, इन बारह द्वारों से सिद्धों की विशेषताओं का विचार किया जाता है।

प्र.1 सिद्धों का क्षेत्र की दृष्टि से संक्षिप्त स्वरूप बताइए।

उत्तर– वर्तमान में तो सभी सिद्धों का एक ही क्षेत्र है– सिद्ध स्थान। सभी सिद्ध भगवन्त वहीं विराजित हैं। किन्तु भूतकाल की अपेक्षा उनका क्षेत्र ढाई द्वीप में अवस्थित 15 कर्मभूमियाँ हैं।

ढाई द्वीप हैं– जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करवरार्धद्वीप।

ढाई द्वीप में अवस्थित पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं– 5 भरत, 5 एरवत और 5 विदेह क्षेत्र।

यह ढाई द्वीप सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र है। इसका सम्पूर्ण विस्तार 45 लाख योजन है। अतः सिद्धशिला का विस्तार भी 45 लाख योजन है। यानी सिद्धशिला 45 लाख योजन लम्बी चौड़ी है। वह मध्य में 8 योजन मोटी है और घटते–घटते दोनों किनारों पर मक्खी के पाँख के समान पतली हो गई है।

वह श्वेत वर्णी, स्वभाव से निर्मल और उत्तान (उलटे) छाते के आकार की है। सिद्धशिला के एक योजन ऊपर, लोक के अग्रभाग में 45 लाख योजन लम्बे–चौड़े और 333 धनुष 32 अंगुल ऊँचे क्षेत्र में अनन्त सिद्ध भगवान विराजमान हैं। यानी इस एक योजन के चार हजार कोस में से 3999 कोस को छोड़कर, आखिरी एक कोस के ऊपर के छठे भाग में सिद्ध भगवान अवस्थित हैं।

प्र.2 काल, गति एवं लिंग की अपेक्षा से सिद्धों का क्या स्वरूप हैं?

उत्तर– **काल–** वर्तमान की दृष्टि से सिद्ध होने का कोई काल नहीं है, क्योंकि सिद्ध होते ही रहते हैं। किन्तु काल के लौकिक दृष्टि से अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी, आरा आदि भेद किये जा सकते हैं। जैसे भरतक्षेत्र में चौथे आरे में ही सिद्ध हो सकते हैं। विदेह क्षेत्र में मुक्ति का निरन्तर क्रम बना ही रहता है।

गति– वर्तमान की अपेक्षा तो सभी मुक्त जीवों की एक ही गति है– सिद्ध गति और भूतकाल की अपेक्षा विचार करने पर सभी मनुष्य गति से ही सिद्ध होते हैं।

लिंग– लिंग के दो आशय हैं– (1) वेद और (2) लक्षण या चिह्न। वर्तमान की अपेक्षा तो सिद्ध वेदातीत है ही और उनका कोई लक्षण भी नहीं है। अतः वे अलिंगी ही हैं।

आसन्नभूत की अपेक्षा भी अवेदी ही मुक्त हो सकते हैं। यदि और भी विस्तार से विचार करें तो स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी ये तीनों भी सिद्ध हो सकते हैं।

लिंग (बाह्य वेश) की अपेक्षा जैनलिंग (साधु–लिंग), पर–लिंग जैनेतर पंथ का लिंग और गृहस्थ लिंग– ये तीनों लिंगों के धारी भी सिद्ध हो सकते हैं, किन्तु भावलिंग सम्यग्दर्शन सहित वीतरागता सभी में आवश्यक है।

प्र.3 तीर्थ एवं चारित्र की दृष्टि से सिद्धों का स्वरूप बतलाइए?

उत्तर– **तीर्थ–** तीर्थ का अभिप्राय है– तीर्थंकर द्वारा प्रचलित सद्धर्म– जिस समय चल रहा हो। ऐसे समय में सिद्ध होने वाले जीव तीर्थसिद्ध कहे जाते हैं।

मरुदेवी माता जैसे विशुद्ध परिणामी जीव ऐसे भी होते हैं जो तीर्थ प्रवर्तन से पहले भी सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे मुक्त जीव अतीर्थसिद्ध हैं।

इसका दूसरा अभिप्राय तीर्थंकर भी लिया जा सकता है। भरतक्षेत्र की अपेक्षा प्रत्येक अवसर्पिणी काल में 24 तीर्थंकर ही होते हैं, ये तीर्थंकर–सिद्ध कहलाते हैं और शेष जितने मनुष्य मुक्त होते हैं वे अतीर्थंकर–सिद्ध कहलाते हैं।

चारित्र– सिद्ध जीव अपनी वर्तमान पर्याय में तो चारित्र से ऊपर उठे हुए हैं। आसन्न भूतकाल की दृष्टि से यथाख्यात चारित्री ही मुक्त होते हैं। यदि और भी पीछे की ओर दृष्टि डाली जाय तो पाँचों चारित्र वाले भी मुक्ति का कारण होते हैं।

प्र.4 बोध एवं ज्ञान द्वार को सिद्धों की अपेक्षा से स्पष्ट कीजिए।

उत्तर– **प्रत्येकबुद्ध बुद्धबोधित–** ये दो प्रकार के हैं– (1) प्रत्येकबुद्ध और (2) बुद्धबोधित– दूसरे के उपदेश को ग्रहण करके सिद्ध होने वाले।

प्रत्येकबुद्ध किसी के उपदेश की अपेक्षा नहीं रखते, इनकी आत्मा स्वयं जागृत होती है। इसी कारण तीर्थंकर भगवान स्वयंबुद्ध होते हैं। वे स्वयं ही अपनी आत्म–जागरणा से मुक्ति प्राप्त करते हैं। दूसरे, प्रत्येकबुद्ध किसी निमित्त को पाकर जाग उठते हैं और मुक्ति प्राप्त करते हैं।

बुद्धबोधित देव, गुरुदेव आदि के उपदेश से आत्म–कल्याण करके सिद्धि प्राप्त करते हैं।

ज्ञान– वर्तमान और भविष्यत्काल की दृष्टि से सिद्धों में केवलज्ञान ही होता है और केवलज्ञानी ही मुक्त होते हैं, किन्तु भूतकाल की अपेक्षा से विचार किया जाय तो दो ज्ञान (मति, श्रुत), तीन ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि), चार ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव) वाले भी सिद्ध होते हैं।

प्र.5 सिद्धों के आत्मप्रदेशों की अवगाहना कितनी होती हैं?

उत्तर– अवगाहना की दृष्टि से सिद्ध जीवों में भी भेद हैं। अवगाहना ऊँचाई को कहा जाता है। सिद्ध जीवों की उत्कृष्ट अवगाहना 333 धनुष और 32 अंगुल तथा जघन्य अवगाहना 1 हाथ 8 अंगुल होती है। इसके मध्य में अनेक प्रकार की अवगाहना हो सकती हैं। यह आत्म प्रदेशों की दृष्टि से है।

प्र.6 सिद्धों के अन्तर एवं संख्या द्वार को संक्षेप में बतलाइये।

उत्तर– **अन्तर–** अन्तर का अभिप्राय है– व्यवधान, अवकाश। जब प्रति समय सिद्ध होते रहते हैं तो वे निरन्तर सिद्ध कहलाते हैं। इस निरन्तरता में बाधा ही अन्तर कहलाती है। यह अन्तर छह माह से अधिक का नहीं पड़ता। यानी एक जीव के सिद्ध होने के छह महीने के अन्दर–अन्दर दूसरा जीव सिद्ध हो ही जायेगा, ऐसा नियम है। ऐसे सिद्ध जीव सान्तर सिद्ध कहलाते हैं।

संख्या– एक समय में कम से कम एक जीव और अधिक से अधिक 108 जीव सिद्ध हो सकते हैं।

प्र.7 अल्पबहुत्व किसे कहते हैं?

उत्तर– जघन्य और उत्कृष्ट तथा मध्य की स्थितियों पर विचार करना 'अल्पबहुत्व' है। जैसे– पुरुषलिंगी एक समय में कितने सिद्ध होते हैं और स्त्रीलिंगी कितने? इसी प्रकार क्षेत्र की अपेक्षा विचार करना कि भरतक्षेत्र से कितने जीव सिद्ध होते हैं और विदेहक्षेत्र से कितने?

संक्षेप में पूर्व में कहे गये 11 द्वारों तथा शास्त्रोक्त अन्य विकल्पों की अपेक्षा न्यूनाधिकता का विचार करना अल्प–बहुत्व है।

उदाहरण के लिए क्षेत्र–सिद्धों में जन्म–सिद्ध और संहरण सिद्ध – दो प्रकार के सिद्ध होते हैं। जन्म–सिद्ध का अभिप्राय है, जिन जीवों (मनुष्यों) का जन्म 15 कर्मभूमियों में से किसी एक में हो और वे साधना करके सिद्धि प्राप्त करे।

संहरण–सिद्ध का अभिप्राय है– कोई देव आदि किसी मनुष्य को उसके जन्म–स्थान (जन्म भूमि) से संहरण कर किसी अन्य क्षेत्र में पहुँचा दे और वह मनुष्य वहीं (संहरण–क्षेत्र में ही) मुक्ति प्राप्त करे।

इस प्रकार अनेक अपेक्षाओं से न्यूनाधिकता का विचार करना ही अल्प–बहुत्व द्वार अथवा विकल्प है।

॥ दसवाँ अध्याय समाप्त ॥

कर्मग्रन्थ भाग-3

(मार्गणाओं में बन्ध स्वामित्व)

उपयोगी गाथाएँ-

जिण[1] सुर[2] विउवाहारदु[2-2] देवाउय[1] नरय[3] सुहुम[3] विगलतिग[3]। 17

एगिंदि[1] थावरायव[1-1] नपुमिच्छं[1-1] हुण्ड[1] छेवट्टं[1] ॥ 7

अणमज्झागिइ[4-4] संघयण[4] कुखग[1] निय[1] इत्थि[1] दुहग[3]
थीणतिगं[3]। 21

उज्जोय[1] तिरिदुगं[2] तिरिनराउ[1-1] नर[2] उरलदुग[2] रिसहं[1] ॥ 10

कुल :- 55

मार्गणाओं में बन्ध-विच्छेद बतलाने के लिये निम्नलिखित 55 प्रकृतियों का अधिक उपयोग होता है। उनके नाम उपर्युक्त गाथा के क्रमानुसार निम्न हैं:-

1. तीर्थंकरनामकर्म	2. देवगति
3. देव आनुपूर्वी	4. वैक्रिय शरीर
5. वैक्रिय अंगोपांग	6. आहारक शरीर
7. आहारक अंगोपांग	8. देवायु
9. नरकगति	10. नरक-आनुपूर्वी
11. नरक आयु	12. सूक्ष्म नाम
13. अपर्याप्त नाम	14. साधारण नाम
15. द्वीन्द्रिय	16. त्रीन्द्रिय
17. चतुरिन्द्रिय	18. एकेन्द्रिय
19. स्थावर नामकर्म	20. आतप नामकर्म
21. नपुंसकवेद	22. मिथ्यात्व मोहनीय
23. हुंड संस्थान	24. सेवार्त संहनन
25. अनन्तानुबन्धी क्रोध	26. अनन्तानुबन्धी मान
27. अनन्तानुबन्धी माया	28. अनन्तानुबन्धी लोभ
29. न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान	30. सादि संस्थान
31. वामन संस्थान	32. कुब्ज संस्थान
33. ऋषभनाराच संहनन	34. नाराचसंहनन
35. अर्धनाराच संहनन	36. कीलिका संहनन
37. अशुभविहायोगति	38. नीचगोत्र

39. स्त्रीवेद
40. दुर्भग
41. दु:स्वर
42. अनादेय
43. निद्रा–निद्रा
44. प्रचला–प्रचला
45. स्त्यानर्द्धि
46. उद्योत
47. तिर्यञ्चगति
48. तिर्यञ्चानुपूर्वी
49. तिर्यञ्चायु
50. मनुष्य–आयु
51. मनुष्यगति
52. मनुष्यानुपूर्वी
53. औदारिक शरीर
54. औदारिक अंगोपांग
55. वज्रऋषभनाराच संहनन

सर्वप्रथम हम दूसरे कर्मग्रन्थ के पाँचवें गुणस्थान तक के बन्ध को इन गाथा के क्रम में जमा लें। किसी भी मार्गणा के उन–उन गुणस्थानों में इन प्रकृतियों को ध्यान में रखकर उपयोग लगाने से बहुत सरलता पूर्वक याद रह सकता है।

गुणस्थान	संख्या	बन्द विच्छेद /अबन्ध	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय	120				
1.	117	–3	(1, 6, 7)	जिण आहारदु	जिननाम, आहारक द्विक
2.	101	–16	(9–24)	नरय से छेवट्टं	नरकत्रिक, जातिचौक, स्थावर चौक, आतप नाम, नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुण्डक संस्थान, सेवार्त्त संहनन
3.	74	–27	(8, 25 से 50)	देवाउ, अण से नराउ	देवायु, मनुष्यायु (2+25 = 27) अनन्तानुबन्धी चौक, मध्य के 4 संहनन, 4 संस्थान, तिर्यञ्च त्रिक, स्त्यानर्द्धि त्रिक, दुर्भगत्रिक अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, उद्योत नाम
4.	77	+3	(1, 8, 50)	जिण देवाउ, नराउ	जिननाम, देवायु, मनुष्यायु
5.	67	–10	(50 से 55 + अप्रत्याख्यानी चौक)	नराउ से रिसहं तक	अप्रत्याख्यानी चौक, मनुष्यत्रिक, औदारिकद्विक, वज्रऋषभ नाराच संहनन

शेष गुणस्थानों में दूसरे कर्मग्रन्थ में वर्णित बन्ध द्वार की तरह जानना चाहिये।

गुणस्थान	संख्या
6	63

गुणस्थान	संख्या
7	58/59
8	I – 58 II-VI – 56 VII – 26
9	I – 22 II – 21 III – 20 IV – 19 V – 18
10	17
11, 12, 13	1
14	नहीं

मार्गणा–

गइ[4] इन्दिए[5] य काए[6] जोए[3], वेए[3] कसाय[4] नाणेसु[8] य ।	33
संजम[7] दंसण[4] लेसा[6], भव[2] सम्मे[6] सन्नि[2] आहारे[2] ॥	29
कुल :–	62

(1) गति मार्गणा–

नरक गति

बन्ध द्वार– समुच्चय नरक गति व पहली, दूसरी, तीसरी नरक तक

(A) 1,2,3 नारकी में समुच्चय बन्ध 101 प्रकृतियों का

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय	101	2–20	सुर से आयव तक (19)	वैक्रिय अष्टक, आहारक द्विक, जाति चौक, स्थावर चौक, आतप नाम को छोड़कर
1	100	(1)	जिण (1)	जिननाम को छोड़कर
2	96	(21–24)	नपुं से छेवट्ट तक (4)	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुण्डक, सेवार्त्तक को छोड़कर

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
3	70	(25–50)	अणमज्झ से नराउ तक (26)	समुच्चय बन्ध स्वामित्व में तीसरे गुणस्थान में छूटी हुई में देवायु पहले छूट गयी, शेष 26 प्रकृति कम हुई।
4	72	(1, 50)	जिण, नराउ बढी (2)	जिननाम, मनुष्यायु बढी।

(B) 4, 5, 6 नरक में समुच्चय बन्ध 100 प्रकृतियों का–

समुच्चय बन्ध व चौथे गुणस्थान में जिननाम का बन्ध नहीं (प्रथम नरकवत्)

गुणस्थान	संख्या
1	100
2	96
3	70
4	71

(C) 7वीं नरक में समुच्चय बन्ध 99 प्रकृतियों का–

चौथी नारकी के समुच्चय बन्ध की 100 प्रकृतियों में से मनुष्यायु को कम करना।

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
1	96	(51–52)	नरदुग (उच्च गोत्र) (3)	मनुष्यद्विक व उच्च गोत्र को छोड़कर
2	91	(21–24, 49)	नपुं, मिच्छ, हुण्ड, छेवट्ट तिरिआउ (5)	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुण्डक, सेवार्तक, तिर्यञ्चायु को छोड़कर
3–4	70	(51–52) (25–48)	अण से तिरि दुगं तक (24)	अनन्तानुबन्धी क्रोध से लेकर तिर्यञ्चानुपूर्वी तक त्र 24 कम हुई तथा मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, उच्च गोत्र ये तीन बढ़ी।

देवगति

समुच्चय बन्ध 104

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय	104	(18–20)	एगिंदि थावर आयव (+3)	पहली नरक में समुच्चय बन्ध योग्य 101 प्रकृतियों में एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप नाम बढ़ी

(A) भवनपति-वाणव्यन्तर-ज्योतिषी-

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय व 1	103	(1)	जिण (1)	जिननाम को छोड़कर
2	96	चौथी नरक के समान		
3	70			
4	71			

(B) पहला-दूसरा देवलोक-

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय	104			
1	103	(1)	जिण (1)	जिननाम को छोड़कर
2	96	पहली नरक के समान		
3	70			
4	72			

(C) तीसरे से आठवें देवलोक तक-

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय	101			
1	100	पहली नरक के समान		
2	96			
3	70			

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
4	72			

(D) नवमें देवलोक से नव ग्रैवेयक तक–

पहली नरक की बन्ध योग्य 101 प्रकृतियों में से समुच्चय व 1, 2 गुणस्थान में तिर्यञ्च त्रिक और उद्योत नाम ये चार प्रकृतियाँ कम करना।

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय	97	(46–49)	उज्जोय, तिरि दुगं तिरि आयु (4)	तिर्यञ्चत्रिक व उद्योत नाम को छोड़कर
1	96			
2	92			
3	70			
4	72			

(E) पाँच अनुत्तर विमान– गुणस्थान 1 (चौथा)

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
4	72			

तिर्यञ्च व मनुष्य गति

तिर्यञ्च व मनुष्य लब्धि अपर्याप्त (अपर्याप्त अवस्था में ही काल करने वाले) - गुणस्थान 1 (पहला)

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
1	109	(1–11)	जिण से नरय (11)	जिननाम, वैक्रिय अष्टक, आहारक द्विक को छोड़कर

(A) तिर्यञ्च लब्धि पर्याप्तक (पर्याप्त होकर काल करने वाले) गुणस्थान 5 (1 से 5)

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय व 1	117	(1, 6, 7)	जिण, आहारदु (3)	जिननाम, आहारक द्विक को छोड़कर
2	101	(9–24)	नरय से छेवट्टं तक (16)	समुच्चय बन्ध के समान
3	69	(8, 25–55)	देवाउ, अण से रिसहं तक (32)	समुच्चय बन्ध द्वार की 27 प्रकृतियों के साथ मनुष्यद्विक, औदारिक द्विक, वज्रऋषभ नाराच संहनन ये पाँच प्रकृतियाँ और कम करना।
4	70	(8)	देवाउ (+1)	देवायु बढ़ी
5	66			अप्रत्याख्यानी चौक कम हुई

(B) मनुष्य लब्धि पर्याप्तक-

समुच्चय व 1, 2 और 6 से 13 गुणस्थान तक – समुच्चय बन्ध स्वामित्व के समान।

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
3	69		तिर्यञ्च लब्धि पर्याप्तक के समान	
4	71	(1,8)	जिण, देवाउ (+2)	जिननाम व देवायु बढ़ी
5	67			अप्रत्याख्यानी चौक घटी

(2-3) जाति एवं काय मार्गणा-

(A) एकेन्द्रिय (पृथ्वी, पानी, वनस्पति) और 3 विकलेन्द्रिय में-

गुणस्थान 2 (आगम में एकेन्द्रिय में एक ही गुणस्थान, किन्तु कर्मग्रन्थ में दो गुणस्थान बतलाये हैं)-

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय व 1	109	(1-11)	जिण से नरय (11) को छोड़कर	
2	96	(12-24)	सुहुम से छेवट्टं तक (13)	

(दूसरी मान्यता के अनुसार दूसरे गुणस्थान में आयुष्य का बन्ध नहीं होता। अतः तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु को छोड़कर 94 प्रकृति का बन्ध होता है। यह मत अधिक महत्त्वपूर्ण है।

(B) तेउकाय, वायुकाय-

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
1	105	(1-11, 50-52) उच्च गोत्र	जिण से नरय, मनुष्यायु, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, उच्चगोत्र (15) कम हुई।	

(C) पंचेन्द्रिय और त्रसकाय-

समुच्चय बन्ध स्वामित्व के समान

(4) योग मार्गणा

(A) मनयोग, वचनयोग सहित औदारिक काययोग- गुण.13

लब्धि पर्याप्तक मनुष्य के समान

(B) मनयोग रहित वचन योग, काययोग-

गुणस्थान 2, तीन विकलेन्द्रिय के समान

विशेष नोटः- इनमें दूसरा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्था में होता है। उसमें वचन योग नहीं हो सकता। अतः वचन योग वाले बेइन्द्रिय में एक गुणस्थान लेना आगम सम्मत है।

(C) मनयोग, वचन योग रहित, औदारिक काययोग-

गुणस्थान 2, एकेन्द्रिय के समान

(D) वैक्रिय काययोग में-

गुणस्थान 4, प्रथम देवलोक के समान

(E) वैक्रिय मिश्र काययोग में-

गुणस्थान 3 (1, 2, 4), प्रथम देवलोक के समान।
किन्तु आयुष्य का बन्ध नहीं लेना।

समुच्चय	102	देव गति में समुच्चय बन्धयोग्य 104 प्रकृतियों में से मनुष्यायु व तिर्यञ्चायु कम करना
1	101	
2	94	
4	71	मनुष्यायु कम करना

(F) आहारक काययोग–

गुणस्थान 1 (छठा) – 63

(G) आहारक मिश्र काययोग–

गुणस्थान 1 (छठा) – 63 सामान्य बन्ध के समान

(गोम्मटसार में देवायु को छोड़कर 62 का उल्लेख है, जो युक्तिसंगत लगता है)

(H) औदारिक मिश्र काययोग–

गुणस्थान 4 – (1, 2, 4, 13)

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय बन्ध	114	(6–11)	आहार से नरय तक (6)	आहारक द्विक, देवायु, नरक त्रिक को छोड़कर
1	109	(1–5)	जिण से विउ तक (5)	जिननाम, देवद्विक और वैक्रिय द्विक को छोड़कर
2	94	(12–24, 49, 50)	सुहुम से छेवट्ठं तक, तिरि नराउ ये 15 कम हुई।	
4	75	+(1–5) –(25–48)	जिण से विउ तक (+5) अण से तिरि दुग तक (–24)	
विशेष– इस गुणस्थान में मनुष्य सम्बन्धी प्रकृति का बन्ध भी नहीं हो सकता। इसलिए (51 से 55) तक की पाँच प्रकृतियों को छोड़कर 70 प्रकृतियों का बन्ध मानना अधिक उपयुक्त लगता है।				
13	1			साता वेदनीय का बन्ध

(I) कार्मण काययोग–

गुणस्थान 4 – (1, 2, 4, 13)

गुणस्थान	संख्या	प्रकृति नम्बर	गाथा के शब्द	प्रकृतियाँ
समुच्चय बन्ध	112	(6–11, 49–50)	आहार से नरय तक, तिरि नराउ (8) को छोड़कर	
1	107	(1–5)	जिण से विउ (5) तक को छोड़कर	
2	94	औदारिक मिश्र काययोग के समान किन्तु देवता नरक के अपर्याप्त में भी कार्मण काययोग होने से चौथे गुणस्थान में मनुष्य सम्बन्धी पाँच प्रकृतियों का बन्ध भी सम्भव है।		
4	75			
13	1	सातावेदनीय का बन्ध		

(5) वेद मार्गणा–

समुच्चय वेद और तीनों वेद में गुणस्थान 1 से 9 तक बन्ध स्वामित्व के समान।

(6) कषाय मार्गणा–

क्रोध, मान, माया में गुणस्थान 1–9 तक,	बन्ध स्वामित्व के समान
लोभ कषाय में गुणस्थान 1–10 तक	

(7,9) ज्ञान व दर्शन मार्गणा–

(A) मति, श्रुत, अवधिज्ञान और अवधिदर्शन में गुणस्थान 9 (4 से 12 तक) समुच्चय बन्ध 79 का, बन्ध स्वामित्व के समान।

(B) मन:पर्याय ज्ञान में गुणस्थान 7 (6 से 12 तक) समुच्चय बन्ध 65 बन्ध स्वामित्व के समान।

(C) केवल ज्ञान, केवल दर्शन में गुणस्थान 2– 13वें में साता वेदनीय का बन्ध, 14वाँ अबन्ध।

(D) मति, श्रुत, विभंग ज्ञान में गुणस्थान 3 (1 से 3 तक) समुच्चय 117, बन्ध स्वामित्व के समान।

(E) चक्षु, अचक्षु दर्शन में गुणस्थान 12 (1 से 12) बन्ध स्वामित्व के समान।

(8) संयम मार्गणा–

(A) असंयम में गुणस्थान 4 (1 से 4 तक) समुच्चय बन्ध 118, बन्ध स्वामित्व की 117 प्रकृतियों में जिननाम बढ़ी।

(B) संयतासंयत में गुणस्थान 1 (पाँचवाँ) 67 का बन्ध, बन्ध स्वामित्व के समान।

(C,D) सामायिक, छेदोपस्थानीय में गुणस्थान 4 (6 से 9 तक) समुच्चय बन्ध 65, (आहारकद्विक बढ़ने से) बन्ध स्वामित्व के समान।

(E) परिहार विशुद्धि में गुणस्थान 2 (6, 7) समुच्चय बन्ध 65, (आहारिक द्विक बढ़ने से) बन्ध स्वामित्व के समान।

(F) सूक्ष्म सम्पराय में गुणस्थान 1 (दसवाँ) बन्ध 17, बन्ध स्वामित्व के समान।

(G) यथाख्यात में गुणस्थान 4 (11–14) साता वेदनीय का बन्ध, 14वाँ अबन्ध।

(10) लेश्या मार्गणा–

(A) कृष्ण, नील, कापोत में गुणस्थान 6 (1–6) बन्ध 118 (117 + जिननाम) बन्ध स्वामित्व के समान।

(B) तेजोलेश्या में गुणस्थान 7 (1–7) समुच्चय 111, (नरय, सुहुम, विगलत्रय) 9 कम।

पहले गुणस्थान में 108 (आहारक द्विक, जिननाम को छोड़कर)।

दूसरे से सातवें गुणस्थान में– बन्ध स्वामित्व के समान।

(C) पद्म लेश्या में गुणस्थान 7 (1 से 7 तक) समुच्चय 108 (एकेन्द्रिय, थावर और आतप, ये तीन और कम हुई)।

पहले गुणस्थान में 105 शेष बन्ध स्वामित्व के समान।

(D) शुक्ल लेश्या में गुणस्थान 13 (1–13) समुच्चय बन्ध 104, (तिर्यञ्च त्रिक व उद्योत को छोड़कर)।

पहले गुणस्थान में 101 (आहारक द्विक व जिननाम को छोड़कर)

दूसरे गुणस्थान में 97 (नपुंसक चौक को छोड़कर)

शेष बन्ध स्वामित्व के समान।

(11) भवी मार्गणा–

(A) भवी में गुणस्थान 14 (1–14) बन्ध स्वामित्व के समान।

(B) अभवी में गुणस्थान 1 (पहला) बन्ध स्वामित्व के समान।

(12) सम्यक्त्व मार्गणा–

(A) मिथ्यात्व में गुणस्थान 1 (पहला), 117 का बन्ध।

(B) सास्वादन में गुणस्थान 1 (दूसरा), 101 का बन्ध।

(C) मिश्र में गुणस्थान 1 (तीसरा), 74 का बन्ध।

(D) उपशम में गुणस्थान 8 (4–11) जहाँ–जहाँ आयु का बन्ध हो, वह कम करना। समुच्चय बन्ध 77.

चौथे गुणस्थान में 75 का बन्ध।

पाँचवें गुणस्थान में 66 का बन्ध।

छठे गुणस्थान में 62 का बन्ध।

सातवें गुणस्थान में 58 का बन्ध, शेष बन्ध स्वामित्व के समान।

(E) क्षयोपशम में गुणस्थान 4 (4–7) समुच्चय बन्ध 79, बन्ध स्वामित्व के समान।

(F) क्षायिक में गुणस्थान 11 (4–14) समुच्चय बन्ध 79, बन्ध स्वामित्व के समान।

(13) सन्नी मार्गणा–

(A) सन्नी में गुणस्थान 14, बन्ध स्वामित्व के समान।

(B) असन्नी में गुणस्थान 2 (1–2)

पहले गुणस्थान में 117 का बन्ध, बन्ध स्वामित्व के समान।

दूसरे गुणस्थान में 101 का बन्ध, बन्ध स्वामित्व के समान।

नोटः– यहाँ सन्नी से तात्पर्य सन्नी पंचेन्द्रिय जाति की अपेक्षा समझना चाहिए।

(14) आहारक मार्गणा–

(A) आहारक में गुणस्थान 13 (1 से 13) बन्ध स्वामित्व के समान।

(B) अनाहारक में गुणस्थान 5 (1, 2, 4, 13, 14) कार्मण काययोग के समान व 14वाँ गुणस्थान अबन्ध।

कर्मग्रन्थ भाग-3 सम्बन्धी ज्ञातव्य

प्रस्तुत कर्मग्रन्थ में गति आदि 14 मार्गणाओं के उत्तर भेदों में सामान्य अथवा विशेष बन्ध को बताया गया है। अर्थात् किस मार्गणा वाला जीव कितनी-कितनी कर्मप्रकृतियों का बन्ध करता है, यह बताया गया है।

ओघ अथवा सामान्य बन्ध— किसी अमुक गुणस्थान की विवक्षा किये बिना ही बन्ध।

विशेष बन्ध— अमुक गुणस्थान की विवक्षा के साथ बन्ध।

सामान्य ज्ञातव्य—

1. नरक गति के बन्ध योग्य अध्यवसाय पहले गुणस्थान तक, तिर्यञ्च गति के बन्ध योग्य दूसरे गुणस्थान तक, मनुष्य गति के बन्ध योग्य चौथे गुणस्थान तक तथा देवगति के बन्ध योग्य अध्यवसाय आठवें गुणस्थान तक होते हैं।
2. नारकी तथा देवता, नरक तथा देवप्रायोग्य बन्ध नहीं करते हैं।
3. नारकी तथा देवता पर्याप्त सन्नी पंचेन्द्रिय प्रायोग्य बन्ध ही करते हैं। दूसरे देवलोक तक के देवता बादर पृथ्वी, पानी व वनस्पति में भी उत्पन्न हो जाते हैं।
4. जाति चौक प्रायोग्य बन्ध पहले गुणस्थान तक ही होता है।
5. तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध सम्यक्त्व होने पर ही चौथे से आठवें गुणस्थान में होता है। किसी भी तिर्यञ्च के तीर्थंकर नाम का बन्ध नहीं होता है। नारकी में 3 नरक तक, देवता में 35 वैमानिक देवों के तथा कर्मभूमिज मनुष्य के ही तीर्थंकर नाम का बन्ध सम्भव है।
6. आहारक द्विक का बन्ध संयम सापेक्ष है तथा सातवें, आठवें गुणस्थान में होता है।
7. कर्मग्रन्थकार पृथ्वी, पानी तथा वनस्पति में दूसरा गुणस्थान भी मानते हैं, लेकिन दूसरे गुणस्थान को अज्ञान रूप ही मानते हैं।
8. कर्मग्रन्थकार अवधिदर्शन को अवधिज्ञान के साथ ही मानते हैं, विभंगज्ञान के साथ नहीं मानते।
9. तीसरे मिश्र गुणस्थान में मिश्र परिणाम होने से किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता है।
10. सम्यग्दृष्टि नारकी तथा देवता, मनुष्य आयु का और सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्च तथा मनुष्य, देवायु का ही बन्ध करते हैं।
11. सातवीं नारकी का नारक आयु बन्ध के समय विशुद्ध अध्यवसाय नहीं रहने से मनुष्य आयु का बन्ध नहीं करता है। तिर्यञ्च आयु का बन्ध मिथ्यात्व अवस्था में ही करता है। दूसरे शब्दों में सातवीं नारकी में जीव उत्पन्न होते समय, आयु बन्ध करते समय तथा काल करते समय, इन तीनों ही अन्तर्मुहूर्त्तों में मिथ्यादृष्टि होता है।
12. आठवें देवलोक के ऊपर के देवता विशुद्ध अध्यवसाय होने से मनुष्य आयु को ही बान्धते हैं।
13. पृथ्वी, पानी, वनस्पति, विकलेन्द्रिय तथा असन्नी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय दूसरे गुणस्थान में आयु का बन्ध नहीं करते हैं।
14. अपर्याप्त नामकर्म वाले जीवों के नरक तथा देवप्रायोग्य बन्ध नहीं होता है। अपर्याप्त नामकर्म से तात्पर्य लब्धि अपर्याप्त से है, जो नियमा अपर्याप्त अवस्था में काल करेगा।

15. तेऊकाय, वायुकाय मनुष्य प्रायोग्य तथा उच्च गोत्र का बन्ध नहीं करते हैं।

16. कर्मग्रन्थकार लब्धि का प्रयोग करते समय औदारिक मिश्रकाय योग नहीं मानते हैं। अपर्याप्त अवस्था अथवा तेरहवें गुणस्थान में केवली समुद्घात के समय औदारिक मिश्रयोग में नरक तथा देवायु का बन्ध सम्भव नहीं है।

17. वैक्रिय मिश्रकाययोग में किसी भी आयु का बन्ध सम्भव नहीं है। तीसरे कर्मग्रन्थ में वैक्रिय मिश्रकायोग भव प्रत्यय की अपेक्षा कहा गया है, लब्धिजन्य नहीं।

18. कार्मणकाय योग बाटे बहती अवस्था में तथा तेरहवें गुणस्थान में केवली समुद्घात के समय होने से किसी भी आयु का बन्ध सम्भव नहीं है।

19. तीसरे कर्मग्रन्थ में बन्ध स्वामित्व का कथन दूसरे कर्मग्रन्थ के अनुसार ही समझना चाहिए। विशेषता यह है कि यहाँ अमुक–अमुक मार्गणाओं में बन्ध होने वाली किन्हीं प्रकृतियों का बन्ध स्वभावतः नहीं होता है।

20. उपशम समकित में किसी भी आयुष्य का बन्ध नहीं होता है। उपशम समकित में आहारक द्विक का बन्ध हो सकता है, किन्तु आहारक द्विक का उदय नहीं होता। यही कारण है कि उपशम समकित में सातवें गुणस्थान में 58 प्रकृतियों का बन्ध माना है।

21. जिस लेश्या में जीव काल करता है उसी लेश्या में उत्पन्न होता है। नरक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय में तेजोलेश्या नहीं होती है। अतः तेजोलेशी के नरक, सूक्ष्म एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय प्रायोग्य बन्ध नहीं होता है। पद्मलेशी, शुक्ललेशी में नरक, एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रिय प्रायोग्य बन्ध नहीं होता है।

22. आहारक मिश्र में छठा गुणस्थान तथा आहारक काय योग में छठा अथवा सातवाँ गुणस्थान माना है। लब्धि प्रयोग छठे में होगा, कर्मग्रन्थकारों के मत से लब्धि प्रयोग होते–होते बीच में अप्रमत्तता आ सकती है। अतः आहारककाय योग में सातवाँ गुणस्थान भी माना गया है। आगमकारों के मतानुसार तो आहारक मिश्र व आहारक काय योग, इन दोनों के उदय में एकमात्र छठा गुणस्थान ही होता है।

23. कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याओं में प्रथम चार गुणस्थान माने हैं। जबकि आगमानुसार प्रथम छह गुणस्थान हो सकते हैं। श्रावकपना, साधुपना शुभ लेश्या में प्राप्त होता है, इस अपेक्षा से कर्मग्रन्थ में इनमें कृष्णादि अशुभ लेश्या नहीं मानी। साधुपना, श्रावकपना आने के बाद उनमें कृष्णादि लेश्या आ सकती है, इस अपेक्षा से आगम में इनमें अशुभ लेश्या छठे गुणस्थान तक मानी है।

24. कृष्णादि तीन लेश्या में चौथे गुणस्थान में 77 प्रकृतियों का बन्ध कहा है। किन्तु चौथे गुणस्थान में देवायु का बन्ध कृष्णादि तीन लेश्या में नहीं हो पाने के कारण 76 प्रकृतियों का बन्ध मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। क्योंकि नारकी, देवता तो देवायु का बन्ध स्वभाव से ही नहीं करते हैं। मनुष्य तिर्यञ्च चौथे गुणस्थान में रहते यदि आयु का बन्ध करे तो वैमानिक देवायु का ही बन्ध करते हैं। यह नियम है कि जिस लेश्या में जीव आयु का बन्ध करता है, उसी लेश्या में काल करता है तथा जिस लेश्या में जीव काल करता है, उसी लेश्या में अगले भव में जाकर उत्पन्न होता है। वैमानिक देवों में कृष्णादि तीन अशुभ लेश्याएँ होती ही नहीं, इस कारण से मनुष्य, तिर्यञ्च सम्यक्त्व अवस्था में कृष्णादि अशुभ लेश्याओं में देवायु का बन्ध कर ही नहीं पाते हैं।

25. कार्मग्रन्थिकों ने शुक्ललेश्या में तिर्यञ्च त्रिक व उद्योत नाम कर्म का बन्ध नहीं माना हैं, जबकि आगम के अनुसार बन्ध संभव है।

प्राकृत व्याकरण

पाठ-11

शब्द कोष

गव्व	=	गर्व
सासण	=	शासन
खीर	=	दूध
सीया	=	सीता
गंगा	=	गंगा
सेणावइ	=	सेनापति
सामि	=	स्वामी
सुणु	=	पुत्र
बिंदु	=	बून्द
जंबू	=	जामुन का पेड़

क्रियाएँ

जग्ग	=	जागना
वड्ढ	=	बढ़ना
णिज्झर	=	झरना
गल	=	गलना
चुउ	=	टपकना
फुर	=	प्रकट होना
हरिस	=	प्रसन्न होना
रक्ख	=	रक्षा करना
इच्छा	=	इच्छा करना/चाहना
गच्छ	=	जाना
कर	=	करना
णिसुण	=	सुनना
पाल	=	पालना
कोक्क	=	बुलाना

षष्ठी विभक्ति के नियम–

1. सम्बन्ध का बोध कराने के लिए षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे– सोहणस्स पोत्थअं = सोहन की पुस्तक।
2. हेतु (हेउ) शब्द के प्रयोग में जो शब्द कारण या प्रयोजन रहता है, वह और हेउ शब्द दोनों में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे– अन्नस्स हेउस्स वसइ = अन्न प्राप्ति के प्रयोजन से रहता है।

उदाहरण–

1. नरिंदस्स पुत्तो हसइ = राजा का पुत्र हँसता है।
2. नरिंदाण पुत्ता हसन्ति = राजाओं के पुत्र हँसते हैं।
3. कमलस्स सोहा वड्ढइ = कमल के फूल की शोभा बढ़ती है।
4. कमलाण सोहा वड्ढइ = कमल के फूलों की शोभा बढ़ती है।
5. सामिस्स पुत्तो जग्गइ = स्वामी का पुत्र जागता है।
6. ससाण धणं वड्ढइ = बहिनों का धन बढ़ता है।
7. गामणिस्स पुत्तो जग्गइ = गाँव के मुखिया का पुत्र जागता है।
8. साहुस्स तेऊ फुरइ = साधु का तेज प्रकट होता है।
9. सयंभुस्स तेऊ फुरइ = सर्वज्ञ का तेज प्रकट होता है।
10. सयंभूण तेऊ फुरइ = सर्वज्ञों का तेज प्रकट होता है।
11. अच्छिस्स अंसुं पडइ = आँख का आँसू गिरता है।
12. वत्थुस्स णाणं फुरइ = वस्तु का ज्ञान प्रकट होता है।

अभ्यास कार्य

निम्न वाक्यों का प्राकृत में अनुवाद कीजिए–

1. राज्य का शासन उसकी रक्षा करे।
2. सीता की माता जागी।
3. सेनापति का धन बढ़े।
4. मेरी पुत्री सुख चाहेगी।
5. मैं गंगा की कथा सुनता हूँ।
6. जल की बूँद टपकती है।
7. साधुओं का तेज प्रकट हुआ।
8. स्वामियों का गर्व गला।
9. सर्वज्ञ का पुत्र जागेगा।
10. गायों का दूध झरेगा।

पाठ-12

शब्द रूप

मेह	=	बादल
सलिल	=	पानी
घर	=	मकान
पोट्टल	=	पोटली
णह	=	आकाश
विमाण	=	विमान
कमला	=	लक्ष्मी
वाया	=	वाणी
जरा	=	बुढ़ापा
णम्मया	=	नर्मदा
भत्ति	=	भक्ति
तत्ति	=	तृप्ति
समणी	=	श्रमणी

धातु रूप

मुच्छ	=	मूर्च्छित होना
वड्ढ	=	बढ़ना
सुक्ख	=	सूखना
गज	=	गरजना
अच्छ	=	बैठना
हो	=	होना
पाल	=	पालना
सुण	=	सुनना

सप्तमी विभक्ति के नियम–

1. किसी क्रिया के आधार को अधिकरण कहते हैं। जहाँ पर या जिसमें वह कार्य किया जाता है। अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे– विज्जालए पढइ = विद्यालय में पढ़ता है।
2. विषय में, बारे में, अर्थ में तथा समयबोधक शब्दों में सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे– मोक्खे इच्छा अत्थि = मोक्ष के विषय में इच्छा है।

उदाहरण–

1. नरिंदे करुणा होइ = राजा में करुणा होती है।
2. कमलम्मि वारिं होइ = कमल के फूल में जल होता है।
3. सामिम्मि करुणा अत्थि = स्वामी में दया है।
4. गामणिम्मि धिई अत्थि = गाँव के मुखिया में धैर्य है।
5. साहूसु णाणं होइ = साधुओं में ज्ञान होता है।
6. अच्छिम्मि भत्ती अत्थि = आँख में भक्ति है।
7. धेणूअ सत्ती हवइ = गाय में शक्ति होती है।
8. बहूसु धिई हवइ = बहुओं में धैर्य होता है।
9. अम्हम्मि करुणा अत्थि = मेरे में (मुझ में) दया है।
10. तम्मि तत्ती अत्थि = उस (पुरुष) में सन्तोष है।

अभ्यास कार्य

निम्न वाक्यों का प्राकृत में अनुवाद कीजिए–

1. आकाश में बादल गरजे।
2. वह परीक्षा में मूर्च्छित हुआ।
3. नर्मदा में पानी सूखा।
4. सीता घर में कथा सुने।
5. वह पोटली पर बैठेगा।
6. बुढ़ापे में वाणी थकी।
7. राज्य में लक्ष्मी बढ़ेगी।
8. माता घर में पुत्र को पाले।
9. सीता में भक्ति होगी।
10. सन्तोष में सुख होगा।

पाठ—13

सन्धि

दो अक्षरों के परस्पर मिलने से उनके आकार और ध्वनि में जो परिवर्तन उत्पन्न होता है, उसे सन्धि कहते हैं। दूसरे शब्दों में किसी शब्द में जब दो वर्ण निकट आने पर मिल जाते है, तब उनके मेल से उनके आकार और ध्वनि में जो परिवर्तन होता है, उसे सन्धि कहते हैं। प्राकृत में पायी जाने वाली सन्धियाँ मुख्यतः तीन प्रकार की हैं :–

1. **स्वर सन्धि –** दो स्वरों के मेल से उत्पन्न होने वाला परिवर्तन स्वर सन्धि है।
2. **लोप सन्धि** — दो स्वरों के मिलने पर एक का लोप हो जाना लोप सन्धि है।
3. **अव्यय सन्धि** — अव्यय पदों के मिलने पर होने वाला परिवर्तन अव्यय सन्धि है।

स्वर सन्धि

किन्हीं दो स्वरों की अत्यधिक समीपता के कारण जब उनमें से एक स्वर या दोनों स्वरों में परिवर्तन होता है, तो उसे स्वर सन्धि कहते हैं।

स्वर सन्धि के मुख्य भेद – 1. दीर्घ सन्धि; 2. असमान स्वर सन्धि; 3. स्वर सन्धि–निषेध।

दीर्घ सन्धि– ह्रस्व या दीर्घ अ, इ, और उ से उनका अपना सवर्ण स्वर बाद में रहे तो दोनों के स्थान पर सवर्ण दीर्घ होता है। जैसे–

जीव + अजीव	=	जीवाजीव (जीव और अजीव)
हिम + आलय	=	हिमालय (हिमालय पर्वत)
दया + अनुसरण	=	दयानुसरण (दया का अनुसरण)
मुणि + ईसर	=	मुणीसर (मुनि का नायक)
सामि + इभ	=	सामीभ (स्वामी का हाथी)
गुरु + उवदेस	=	गुरूवदेस (गुरु का उपदेश)
चमू + उदय	=	चमूदय (सेना की उन्नति)
स + अहीणे	=	साहीणे (स्वाधीन)
मगह + अहिवो	=	मगहाहिवो (मगध का शासक)
पुहवी + ईस	=	पुहवीस (पृथ्वी का स्वामी)

असमान स्वर सन्धि– अ या आ वर्ण के बाद में इ अथवा उ वर्ण हो तो इ का ए तथा उ का ओ हो जाता है। जैसे–

देस + इला	=	देसेला (देश की भूमि)
दिण + ईस	=	दिणेस (सूर्य)
सव्व + उदय	=	सव्वोदय (सर्वोदय)

दया + ऊण = दयोण (दया से हीन)

पर + उवयारं = परोवयारं (दूसरे का उपकार)

स्वर सन्धि निषेध– (i) इ, ई, उ, ऊ के पश्चात् कोई विजातीय स्वर आवे तो सन्धि नहीं होती है। उदाहरण–

जाइ + अन्ध = आइअन्ध (जन्म से अन्धा)

पुढवी + आउ = पुढवीआउ (पृथ्वी की आयु)

तणू + अकय = तणुअकय (शरीर से नहीं किया हुआ)

(ii) ए अथवा ओ के बाद स्वर होने पर सन्धि नहीं होती है। जैसे–

लच्छीए + आणंदो = लच्छीए आणंदो (लक्ष्मी का आनन्द)

अहो + अच्छरियं = अहो अच्छरियं (प्रशंसनीय आश्चर्य)

महावीरे + आगच्छइ = महावीरे आगच्छइ (महावीर आते हैं)

(iii) क्रियापद के प्रत्यय के स्वर की अन्य किसी भी दूसरे स्वर के साथ सन्धि नहीं होती है। जैसे– होई + इह = होइ इह (यहाँ होता है)

अभ्यास कार्य–

1. सन्धि किसे कहते हैं?
2. स्वर सन्धि के प्रमुख भेद कौन–कौनसे हैं?
3. निम्न शब्दों में सन्धि कीजिए–

   मगह + अहिवो, मोह + आउरा, न + इच्छसि, जाव + इंदिया, तत्थ + एव

4. निम्नलिखित शब्दों का सन्धि–विच्छेद कीजिए–

   लोगुत्तमा, धम्माभिमुहो, तस्सेव, गंगाभिहाणा, सुहोइयं, समागया, गिहावासे, नराहिवा

पाठ-14

लोप विधान सन्धि

यह सन्धि का दूसरा प्रकार है। प्राकृत में इस सन्धि के सर्वाधिक प्रयोग मिलते हैं, इसलिए स्वर सन्धि के अन्तर्गत होते हुए भी इसे अलग से रख रहे हैं।

(i) इसमें स्वर के बाद स्वर रहने पर पूर्व स्वर का लोप विकल्प से हो जाता है। जैसे–

नर + ईसर = नरेसर (नर का स्वामी या राजा)

महा + इसि = महेसि (बड़ा इन्द्र)

सासण + उदय = सासणोदय (शासन का लाभ)

महा + उसव = महोसव (महा उत्सव)

(ii) ए, ओ से पहले अ, आ का लोप हो जाता है। जैसे–

जल + ओह = जलोह (जल का भण्डार)

णव + एला = णवेला (इलायची का पेड़)

वण + ओली = वणोली (वन की श्रेणी)

माला + ओहड = मालोहड (माला फेंकी हुई)

(iii) पूर्वपद के पश्चात् अ का लोप दिखाने के लिए एक अवग्रह चिह्न (ऽ) लिखा जाता है। जैसे–

का + अवत्था = काऽवत्था (क्या अवस्था)

एक्को + अत्थ = एक्कोऽत्थ (अकेला, यहाँ)

(iv) पूर्वपद के पश्चात् आ का लोप दिखाने के लिए दो अवग्रह चिह्न (ऽऽ) लिखे जाते हैं। जैसे–

ना + आलसेण = नाऽऽलसेण (आलस्य के बिना)

वा + आसन्ने = वाऽऽसन्ने (तथा, समीप)

अभ्यास

1. लोप विधान सन्धि के प्रमुख नियम क्या–क्या हैं?
2. निम्नांकित शब्दों का सन्धि विच्छेद कीजिए–

   अगुत्तिंदिए, वणोली, पुत्ताऽऽलम्बो, देवेसर, मुणिवरस्सेव
3. निम्नांकित शब्दों में सन्धि कीजिए–

   तेण + इंदभूदिणा, निर + उविग्गाइं, ववसिएण + अज्जं, तुज्झ + अन्नं, धरणियल + ओसित्त

पाठ—15

अव्यय सन्धि

सन्धि का तीसरा प्रकार अव्यय सन्धि है। किन्हीं भी दो अव्यय पदों में सन्धि कार्य करने को अव्यय सन्धि कहते हैं। यद्यपि यह सन्धि भी स्वर सन्धि के अन्तर्गत ही है, तो भी विस्तृत जानकारी हेतु इसे पृथक् से समझाया जा रहा है।

(i) किसी भी पद के बाद आये हुए अपि/अवि अव्यय के 'अ' का विकल्प से लोप होता है। जैसे—

केण + अपि/अवि = केणपि/केणवि अथवा केणापि/केणावि (किसी के द्वारा भी)

किं + अपि/अवि = किंपि/किंवि अथवा किमपि/किमवि (कुछ भी)

(ii) किसी भी पद के बाद में रहने वाले 'इति' अव्यय के 'इ' का विकल्प से लोप हो जाता है। जैसे—

किं + इति = किंति (क्यों, इस प्रकार)

जुत्तं + इति = जुत्तंति (उचित, इस प्रकार)

(iii) सर्वनामों से परे अव्यय आने पर अव्ययों के आदि स्वर का विकल्प से लोप होता है। जैसे—

अम्मि + एत्थ = अम्मित्थ अथवा अम्मि एत्थ (मैं यहाँ)

तुज्झ + इत्थ = तुज्झत्थ अथवा तुज्झ इत्थ (तुम सब, यहाँ)

(iv) अव्ययों से परे सर्वनाम आने पर सर्वनामों के आदि स्वर का विकल्प से लोप होता है। जैसे—

जइ + अहं = जइहं अथवा जइ अहं (यदि, मैं)

जई + इमा = जइमा अथवा जइ इमा (यदि, वह)

तत्थ + एव = तत्थेव (वहाँ, ही)

कस्स + एस = कस्सेस (किसकी, यह)

अव्यय— ऐसे शब्द जिनके रूप में कोई परिवर्तन न हो और जो सदा एक से रहे अर्थात् सभी विभक्ति, सभी वचन और सभी लिंगों में एक समान रहे, वे अव्यय कहलाते हैं।

नोट— प्राकृत में प्रायः व्यंजन सन्धि का अभाव सा ही है, परन्तु संज्ञा–सर्वनाम शब्दों की विभक्तियों में जो अनुस्वार है, वह 'म्' का परिवर्तित रूप ही है। चूँकि अनुस्वार (ं) म् का परिवर्तित रूप है, इस कारण जब अनुस्वार सहित शब्द की आगे वाले स्वर के साथ सन्धि करनी हो तो अनुस्वार (ं) म् में परिवर्तित होकर आगे वाले स्वर के साथ विकल्प से मिल जाता है। जैसे—

धणं + एव = धणमेव अथवा धणं एव (धन ही)

उसभं + अजिअं = उसभमजिअं अथवा उसभं अजिअं (ऋषभ, अजित)

अभ्यास—

1. अव्यय किसे कहते हैं?
2. अव्यय सन्धि के प्रमुख नियम एक–एक उदाहरण देकर समझाइए।

परिशिष्ट

सर्वनाम रूप

तीनों लिङ्गों में — अम्ह (मैं)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	अहं/हं/अम्भि **(मैं, मैंने)**	अम्हे/वयं **(हम, हमने)**
द्वितीया	ममं/मं/मि **(मुझे, मुझको)**	अम्हे/अम्ह/णे **(हमें, हमको)**
तृतीया	मइ/मए/मे/ममए **(मुझसे, मेरे द्वारा)**	अम्हेहि/अम्हाहि **(हमसे, हमारे द्वारा)**
चतुर्थी	मइ/मम/मह/मज्झ **(मेरे लिए)**	अम्हाण/अम्हाणं/ममाण/ ममाणं **(हमारे लिए)**
पंचमी	मइत्तो/ममाओ/मज्झाओ/ ममाहिन्तो **(मुझसे)**	ममाहिन्तो/ममासुन्तो/ अम्हाओ/अम्हेहि/अम्माहिन्तो **(हमसे)**
षष्ठी	मइ/मम/मह/मज्झ **(मेरा, मेरी, मेरे)**	अम्हाण/अम्हाणं/ममाण/ ममाणं **(हमारा, हमारी, हमारे)**
सप्तमी	अम्हम्मि/मे/महम्मि **(मुझ में, मुझ पर)**	अम्हेसु/ममेसु/मज्झेसु **(हम में, हम पर)**

तीनों लिङ्गों में — तुम्ह (तुम)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	तुमं/तुं/तुह **(तू, तूने)**	तुम्हे/तुज्झे/तुब्भे **(तुम, तुमने)**
द्वितीया	तुमं/तुं/तुवं **(तुझे, तुझको)**	तुम्हे/तुज्झे/मे **(तुम्हें, तुमको)**
तृतीया	तइ/तए/तुमइ/तुमए **(तुझसे, तेरे द्वारा)**	तुम्हेहिं/तुज्झेहिं/तुब्भेहिं **(तुमसे, तुम्हारे द्वारा)**
चतुर्थी	तुम्ह/तुज्झ/तुब्भ **(तेरे लिए)**	तुम्हाण/तुम्हाणं/तुब्भाण **(तुम्हारे लिए)**
पंचमी	तुम्हाहिन्तो/तुवत्तो/तुहाओ/ तुहाओ **(तुझसे)**	तुब्भासुन्तो/तुम्हाहिन्तो/ तुम्हासुन्तो **(तुमसे)**
षष्ठी	तुम्ह/तुज्झ/तुब्भ	तुम्हाण/तुम्हाणं/तुब्भाण

	(तेरा, तेरे, तेरी)	(तुम्हारा, तुम्हारे, तुम्हारी)
सप्तमी	तुमए/तुहम्मि/तुमम्मि **(तुझ में, तुझ पर)**	तुसु/तुमेसु/तुम्हेसु **(तुम में, तुम पर)**

पुल्लिंग - त (वह)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	सो **(वह, उसने)**	ते **(वे, उन्होंने)**
द्वितीया	तं **(उसे, उसको)**	ते/ता **(उन्हें, उनको)**
तृतीया	तिणा/तेण/तेणं **(उससे)**	तेहि/तेहिं/तेहिँ **(उनसे)**
चतुर्थी	तास/तस्स **(उसके लिए)**	तास/ताण/ताणं **(उनके लिए)**
पंचमी	ताओ/ताउ/ताहिन्तो **(उससे)**	ताहिन्तो/तासुन्तो/तेहिन्तो **(उनसे)**
षष्ठी	तास/तस्स **(उसका, उसकी, उसके)**	तास/ताण/ताणं **(उनका, उनकी, उनके)**
सप्तमी	तम्मि/तस्सिं/तहिं **(उसमें, उस पर)**	तेसु/तेसुं **(उनमें, उन पर)**

नपुंसकलिंग — त (वह)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	तं **(वह, उसने)**	ताइं, ताइँ, ताणि **(वे, उन्होंने)**
द्वितीया	तं **(उसे, उसको)**	ताइं, ताइँ, ताणि **(उन्हें, उनको)**
तृतीया	तिणा/तेण/तेणं **(उससे)**	तेहि/तेहिं/तेहिँ **(उनसे)**
चतुर्थी	तास/तस्स **(उसके लिए)**	तास/ताण/ताणं **(उनके लिए)**
पंचमी	ताओ/ताउ/ताहिन्तो **(उससे)**	ताहिन्तो/तासुन्तो/तेहिन्तो **(उनसे)**
षष्ठी	तास/तस्स **(उसका, उसकी, उसके)**	तास/ताण/ताणं **(उनका, उनकी, उनके)**
सप्तमी	तम्मि/तस्सिं/तहिं **(उसमें, उस पर)**	तेसु/तेसुं **(उनमें, उन पर)**

स्त्रीलिंग — ता (वह)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	सा **(वह, उसने)**	ता/ताउ/ताओ **(वे, उन्होंने)**
द्वितीया	तं **(उसे, उसको)**	ता/ताउ **(उन्हें, उनको)**
तृतीया	ताअ/ताइ/ताए **(उससे)**	ताहि/ताहिं/ताहिँ **(उनसे)**
चतुर्थी	ताअ/ताइ/ताए **(उसके लिए)**	तास/ताण/ताणं **(उनके लिए)**
पंचमी	ताअ/ताइ/ताए/तत्तो **(उससे)**	ताओ/ताउ/ताहिन्तो **(उनसे)**
षष्ठी	ताअ/ताइ/ताए **(उसका, उसकी, उसके)**	तास/ताण/ताणं **(उनका, उनकी, उनके)**
सप्तमी	ताअ/ताइ/ताए **(उसमें, उस पर)**	तासु/तासुं **(उनमें, उन पर)**

पुल्लिंग - इम (यह)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	इमो, अयं, इमे **(यह, इसने)**	इमे **(ये, इन्होंने)**
द्वितीया	इमं, इणं, णं **(इसे, इसको)**	इमे, इमा, णे, णा **(इन्हें, इनको)**
तृतीया	इमिणा, इमेण, इमेणं, णिणा **(इससे)**	इमेहि, इमेहिं, इमेहिँ **(इनसे)**
चतुर्थी	से, इमस्स, अस्स **(इसके लिए)**	इमेसिं, इमाण, इमाणं, सिं **(इनके लिए)**
पंचमी	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिन्तो, इमा **(इससे)**	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिन्तो, इमासुन्तो **(इनसे)**
षष्ठी	से, इमस्स, अस्स **(इसका, इसकी, इसके)**	इमेसिं, इमाण, इमाणं, सि **(इनका, इनकी, इनके)**
सप्तमी	इमस्सिं, इमम्मि, अस्सिं, इह **(इसमें, इस पर)**	इमेसु, इमेसुं **(इनमें, इन पर)**

नपुंसकलिंग — इम (यह)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	इदं, इणमो, इणं **(यह, इसने)**	इमाइं, इमाइँ, इमाणि **(ये, इन्होंने)**
द्वितीया	इदं, इणमो, इणं **(इसे, इसको)**	इमाइं, इमाइँ, इमाणि **(इन्हें, इनको)**
तृतीया	इमिणा, इमेण, इमेणं, णिणा **(इससे)**	इमेहि, इमेहिं, इमेहिँ **(इनसे)**
चतुर्थी	से, इमस्स, अस्स **(इसके लिए)**	इमेसिं, इमाण, इमाणं, सिं **(इनके लिए)**
पंचमी	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिन्तो, इमा **(इससे)**	इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहि, इमाहिन्तो, इमासुन्तो **(इनसे)**
षष्ठी	से, इमस्स, अस्स **(इसका, इसकी, इसके)**	इमाण, इमाणं, सिं **(इनका, इनकी, इनके)**
सप्तमी	इमस्सिं, इमम्मि, अस्सिं, इह **(इसमें, इस पर)**	इमेसु, इमेसुं **(इनमें, इन पर)**

स्त्रीलिंग — इमी, इमा (यह)

विभक्ति	एकवचन	बहुवचन
प्रथमा	इमी, इमीआ, इमिआ, इमा **(यह, इसने)**	इमीआ, इमीओ, इमीउ, इमी, इमाओ, उमाउ, इमा **(ये, इन्होंने)**
द्वितीया	इमिं, इमं **(इसे, इसको)**	इमीआ, इमीओ, इमीउ **(इन्हें, इनको)**
तृतीया	इमीअ, इमीआ, इमीअ, इमीए, इमाअ, इमाइ, इमाए **(इससे)**	इमी, इमाओ, इमाउ, इमा, इमीहि, इमीहिं, इमीहिँ, इमाहि, इमाहिं, इमाहिँ **(इनसे)**
चतुर्थी	इमीअ, इमीआ, इमीअ, इमीए इमाअ, इमाइ, इमाए **(इसके लिए)**	इमीण, इमीणं, सिं, इमेसिं, इमाण, इमाणं **(इनके लिए)**
पंचमी	इमीअ, इमीआ, इमीअ, इमीए, इमित्तो, इमीओ, इमीउ, इमीहिन्तो, इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाअ, इमाइ, इमाए, इमाहिन्तो **(इससे)**	इमित्तो, इमीओ, इमीउ, इमीहिन्तो, इमीसुन्तो, इमत्तो, इमाओ, इमाउ, इमाहिन्तो, इमासुन्तो **(इनसे)**

षष्ठी	इमीअ, इमीआ, इमीअ, इमीए, इमाअ, इमाइ, इमाए **(इसका, इसकी, इसके)**	इमीण, इमीणं, सिं, इमेसिं, इमाण, इमाणं **(इनका, इनकी, इनके)**
सप्तमी	इमीअ, इमीआ, इमीअ, इमीए इमाअ, इमाइ, इमाए **(इसमें, इस पर)**	इमीसु, इमीसुं, इमासु, इमासुं **(इनमें, इन पर)**

अखिल भारतीय श्री जैन रत्न आध्यात्मिक शिक्षण बोर्ड, जोधपुर

कक्षा : बारहवीं – जैन सिद्धान्त शास्त्री (परीक्षा 16 जुलाई, 2017)

समय : 3 घण्टे अंक : 100

प्र.1 निम्नलिखित प्रश्नों में से सही उत्तर का क्रमाक्षर कोष्ठक में लिखिए :- 10x1 = (10)

(a) तीर्थंकर भगवान उपदेश देते हैं -

(क) केवल अर्थरूप (ख) केवल सूत्र रूप

(ग) उभय रूप (घ) इनमें से कोई नहीं ( )

(b) आचारांग सूत्र में कुल अध्याय हैं -

(क) 24 (ख) 25

(ग) 85 (घ) 78 ( )

(c) तत्त्वार्थ सूत्र में नाम कर्म के भेद बताये गये हैं -

(क) 93 (ख) 103

(ग) 42 (घ) 97 ( )

(d) दर्शन या वाणी से दूसरों को पराजित करने वाला कर्म है -

(क) आतप (ख) उपघात

(ग) पराघात (घ) तीर्थंकर नाम ( )

(e) संवर के विस्तार से कितने भेद होते हैं -

(क) 07 (ख) 12

(ग) 20 (घ) 69 ( )

(f) याचना परीषह किस कर्म के कारण होता है-

(क) अन्तराय (ख) मोहनीय

(ग) वेदनीय (घ) ज्ञानावरणीय ( )

(g) नारकी जीवों में समुच्चय बन्ध है-

(क) 100 प्रकृतियाँ (ख) 99 प्रकृतियाँ

(ग) 101 प्रकृतियाँ (घ) 97 प्रकृतियाँ ( )

(h) आहारक काय योग में गुणस्थान होता है -

(क) छट्ठा (ख) सातवाँ

(ग) दोनों (घ) इनमें से कोई नहीं ( )

(i) तीसरे गुणस्थान में आयु का बंन्ध होता है -

(क) चारों आयु (ख) देव व नारक

(ग) मनुष्य (घ) किसी भी आयु का बंध नहीं ( )

(j) जल + ओह = जलोह में सन्धि है -

(क) लोप (ख) असमान

(ग) दीर्घ (घ) गुण सन्धि ( )

प्र.2 निम्न प्रश्नों के उत्तर 'हाँ' अथवा 'नहीं' में दीजिए :- **10x1 = (10)**

(a) आचारांग गद्य-पद्यात्मक अंगशास्त्र है। ( )

(b) आचारांग के चौथे अध्ययन का नाम लोकसार है। ( )

(c) राजा प्रदेशी श्वेताम्बिका नगरी का अधिपति था। ( )

(d) तत्त्वार्थ के अनुसार प्रकृति बंध के आठ मूल तथा 97 उत्तर भेद हैं। ( )

(e) प्रत्याख्यानावरण कषाय विरति का प्रतिबंध करता है। ( )

(f) शीतल शरीर में उष्ण प्रकाश का नियामक कर्म उद्योत है। ( )

(g) जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गई हो, उसे स्नातक निर्ग्रन्थ कहते हैं। ( )

(h) जाति चतुष्क का बन्ध पहले गुणस्थान तक होता है। ( )

(i) प्राकृत में प्रायः व्यंजन संधि का अभाव होता है। ( )

(j) वायुकाय उच्च गोत्र का बंध नहीं करता है। ( )

प्र.3 मुझे पहचानो :- **10x1 = (10)**

(a) मेरा एक नाम आचाल भी है। .....

(b) मैं राजा प्रदेशी का सारथी हूँ। .....

(c) मेरे उदय से जीव को साता का अनुभव होता है। .....

(d) मैं एक ऐसी कषाय हूँ, जो कि जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होने देती हूँ। .....

(e) मेरे उदय से जीव के वचन बहुमान्य होते हैं। .....

(f) मेरे निमित्त से अदर्शन परीषह होता है। .....

(g) मैं एक ऐसी आयुकर्म की प्रकृति हूँ, जिसका बंध सातवें गुणस्थान तक होता है। .....

(h) मैं एक ज्ञान हूँ, जो कि 6 से 12 गुणस्थान तक ही रहता हूँ। .....

(i) मैं एक शरीर हूँ, मेरा बंध संयम सापेक्ष है। .....

(j) मैं किसी क्रिया का आधार हूँ व्याकरण में मुझे क्या कहते हैं ? .....

प्र.4 निम्न प्रश्नों के उत्तर एक-दो पंक्तियों में दीजिए। **14x2 = (28)**

(a) **आचारांग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौ अध्ययनों के नाम लिखिए।**

.....

.....

(b) **अंग साहित्य में आचारांग का सर्वप्रथम स्थान क्यों है ?**

.....

.....

© **आचारांग के किस अध्ययन का नाम आवंति भी है व क्यों है ?**

.....

.....

(d) **''उद्देसो पासगस्स णत्थि'' इस सूत्र का अर्थ लिखिए।**

.....

.....

(e) **''उट्ठिते णो पमादए'' इस सूत्र का अर्थ लिखिए।**

.....

.....

(f) **''णो लोगस्सेसणं चरे'' सूत्र का अर्थ लिखिए।**

.....

.....

(g) **श्वेताम्बिका नगरी के अधिपति का नाम एवं स्वभाव लिखिए।**

.....

.....

(h) **कर्म बंध के हेतुओं के नाम लिखिए।**

.....

.....

(i) **मिथ्यात्व मोहनीय किसे कहते हैं ?**

.....

.....

(j) **'तपसा निर्जरा च' सूत्र का अर्थ लिखिए।**

.....

.....

(k) **अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं ?**

.....

.....

(l) **''कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः'' सूत्र का अर्थ लिखिए।**

.....

.....

(m) **अम्हम्मि करूणा अत्थि। इस वाक्य का हिन्दी में अनुवाद कीजिए।**

.....

.....

(n) **निम्न में सन्धि कीजिए।**

1 **णव+एला** .....

2 **स+अहीणे** .....

प्र.5 निम्न प्रश्नों के उत्तर दो-तीन वाक्यों में लिखिए : - **14x3=(42)**

(a) **जे अज्झत्थं जाणति से बहिया जाणति, जे बहिया जाणति से अज्झत्थं जाणति। इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट कीजिए।**

.....

.....

.....

.....

(b) **किन कारणों से नरक गति में उत्पन्न हुए जीव मनुष्य लोक में नहीं आ सकते हैं ?**

.....

.....

.....

.....

(c) **कौन-कौनसी दस बातें हैं जो छद्मस्थ जीव नहीं देख पाते, किन्तु केवलज्ञानी देख सकते हैं ?**

.....

.....

.....

.....

(d) **''सुत्ता अमुणी मुणिणो सया जागरंति'' सूत्र का आशय लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(e) **संज्ञा का अर्थ बताते हुए उसके प्रकार एवं सोलह भेद लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(f) **भगवान महावीर के ध्यान की विशेषताएँ संक्षेप में लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(g) **आठ कर्मों की जघन्य स्थिति लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(h) **दुःख उत्पत्ति के प्रमुख कारण क्या हैं ?**

.....

.....

.....

.....

(i) **सिद्धों के आत्म प्रदेशों की अवगाहना कितनी होती है ?**

.....

.....

.....

.....

(j) **ज्ञान मार्गणा का बंध स्वामित्व लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(k) **आहारक मार्गणा का बंध स्वामित्व लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(l) **शुक्ल लेश्या का बंध स्वामित्व लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(m) **परिहार विशुद्ध संयम एवं सूक्ष्म संपराय संयम का बंध स्वामित्व लिखिए।**

.....

.....

.....

.....

(n) **निम्न वाक्यों का प्राकृत में अनुवाद कीजिए।**

स्वामी में दया है। .....

राजा का पुत्र हँसता है। .....

आँख से आँसू गिरता है।.....

.....